गांधीजी के सम्पर्कमें

सम्पादक

चन्द्रशंकर शुक्ल

अनुवादक

'दर्शन'

सरदार वल्लभभाई पटेल के 'आशीर्वचन' सहित



वोरा एन्ड कंपनी पब्लिशर्स लिमिटेड

३, राउंड बिल्डिंग, कालबादेवी, बंबई २

प्रथम संस्करण—मई १९४७

मूल्य रू. ३।)

आशीर्वचन

गांधीजी के गुजरात में आकर बसने से पहले, वैश्यवृत्ति-प्रधान गुजरात-प्रान्त, सिर्फ़ धन हथियाने की कला में ही निपुण था; सार्वजनिक–जीवन में उसका ज़रा भी स्थान न था। उन्होंने आकर गुजरात के समस्त जीवन के मानदंड में अकल्पनीय और अद्भुत परिवर्तन किया और उसे हिन्दुस्तान के राजनीतिक नक्शे में भी मुख्य-स्थान दिलाया। चारों ओर 'सेवाधर्म' की भावना को जगाकर उन्होंने जन-जीवन में एक निर्मल और मृदु रसधार बहा दी। उस धारा के अतिशय वेगवान प्रवाह में गुजरात की जगह जगह से नरनारी खिंचे और असंख्य व्यक्तियों को जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ।

गांधीजी के सम्पर्क में आनेवाले, विभिन्न व्यक्तियों के संस्मरण एकत्रित करके गांधीजी की ७७ वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर, गुजरात की जनता के सम्मुख, यह संग्रह प्रस्तुत करने का शुभसंकल्प भाई चन्द्रशंकर ने किया है। गुजरात के छोटे बड़े ऐसे व्यक्ति गांधीजी के सम्पर्क में आये हैं, जिनमें से कुछ के संस्मरण इस पुस्तक में संग्रहीत किये गये हैं। इन्हें पढ़ने पर मालूम होता है कि किस तरह उनके सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों ने उनकी ओर आकर्षित होकर, उनके जीवन में प्रवेश करके उनकी परिवर्तनमयी अद्भुत शक्ति से अपने जीवन के प्रवाह को ही बदल दिया। इस संस्मरण–संग्रह को प्रसिद्ध करने के शुभ-संकल्प के पीछे किये जाने वाले परिश्रम के लिए भाई चन्द्रशंकर धन्यवाद के पात्र हैं। यह छोटी सी पुस्तक, भविष्य में, गुजरात के लिए बहुत उपयोगी साबित होगी।

पूना : ११–१०–४५ **वल्लभभाई पटेल**



परिचय

महात्माजी के सेवामय दिव्य-सन्देश का क्रियात्मक प्रभाव, जब वेगवान होकर भारत पर पड़ा, तब जिस प्राचीन, किन्तु सुषुप्त चेतना ने, जन-मन में विकसित और प्रकाशित होकर अपना दिव्य-स्वरूप दिखाया, उसे भारत की जनता ने भारतीय राजनीति के नये स्वरूप में, 'सत्य' और 'अहिंसा' इन दो गर्भित शब्दों से पहिचानना शुरू किया।

भारत की इस नई राजनीति के लिए तार्किक मतभेद होते हुए भी भारत के प्रत्येक व्यक्ति ने इसका हृदय से समर्थन किया था, और इसीलिए बीसियों साल बीत जानेपर, जब कि इतनी अवधि में दुनिया के अनेक 'वाद' उत्पन्न और लुप्त हुए, यह अब भी अपनी उसी दिव्य-प्रभा से प्रकाशित है!

प्रस्तुत परिचय-संग्रह में, गांधीजी के व्यक्तिगत जीवन का, उनके इस महान सिद्धान्त से कैसे एकाकार हुआ है, इसकी झलक मिलती है। अनेक व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने के कारण जहाँ हमें उनके भिन्न भिन्न प्रकार के स्वरूप-दर्शन का आभास होता है, वहीं विभिन्न दृष्टिकोणों के अस्तित्व से हमारी रुचि और जिज्ञासा भी बनी रहती है, ताकि हम उनके मर्म को हृदयंगम कर सकें।

अनुवाद की दृष्टि से, मैंने प्रत्येक परिचयदाता के व्यक्तीकरण का सबसे पहले ध्यान रखा है, उसके बाद भाषा–शैली और शाब्दिक अनुशीलन का। मेरे मत से ऐसा करने से, पाठक परिचयदाता के भाव को अधिक निकट से अनुभव कर सकेंगे, और भाषांतर का व्यवधान रुकावट न बनकर, अधिक से अधिक पारदर्शी बना रह सकेगा।

आशा है हिन्दी-जगत, भारत की महान् विभूति के इस परिचय-प्रयास को समुचित स्थान देगा।

बम्बई
२८ अप्रैल, १९४७

अनुवादक



संपादक के दो शब्द

१९४२ के बाद, हर साल गांधी–जयंति के अवसर पर, गांधीजीके जीवन और कार्य-सम्बन्धी एक पुस्तक तैयार करके गुजराती-जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की जो प्रणाली चल पड़ी है, उसीके अनुसार इस साल इस पुस्तक को प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त होना, आनन्द का विषय है। यह पुस्तक, आज तक प्रकाशित हुई गांधी–सम्बन्धी पुस्तकों से विभिन्न प्रकार की है। गांधीजी के जीवन-सम्बन्धी ऐसे अगणित प्रसंग हैं, जिन्हें भूल जाने से पहले लेखन–बद्ध कर डालना जरूरी है; इतना ही नहीं बल्कि, जो स्त्री-पुरुष, कम–ज्यादा परिमाण में गांधीजी के सम्पर्क में आये हैं, उनका, वर्तमान और भावी जन-जीवन के लिए, अपने अनुभवों को लेखबद्ध करना एक कर्त्तव्य भी है। हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि समय के बीतने के साथ साथ ऐसे बहुत से कीमती रत्न या तो मन्द पड़ जाते हैं या खो जाते हैं। बहुत से अमूल्य संस्मरणों को मृत्यु हमसे छीन लेती है। इसलिए, उन बहुमूल्य संस्मरणों में से थोड़े भी समयानुसार संग्रहीत कर लिए जाएँ, यह सोचकर, इस साल गांधी–जयंती के कुछ ही दिनों पहले मैंने बहुत से महानुभावों और निकटस्थ मित्रों से इस बारे में निवेदन किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया; फलस्वरूप यह लेखसंग्रह तैयार हुआ है। मैं, उन सब मित्रों और महानुभावों का, जिन्होंने मुझे, अपने संस्मरणों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में निमित्तरूप होने दिया है, अत्यधिक आभारी हूँ।

मैंने उपर्युक्त महानुभावों को जो निवेदन–पत्र भेजे थे, उनमें लिखा था कि यह प्रयास तो विशाल महासागर में एक बिन्दु जैसा है, और यह बात अक्षरशः सत्य है। इस पुस्तक लेखक और लेखिकाओं को छोड़कर ऐसे अनेक स्त्री–पुरुष और हैं

जिनके द्वारा भी इतने ही बहुमूल्य संस्मरण पाये जा सकते थे, लेकिन इस बार पुस्तक के सीमित आकार और समय के कारण उन सबों का समावेश करना असंभव था। इस पुस्तक पढ़ने पर इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि, जिस तरह प्रस्तुत लेखों से गांधीजी के विभिन्न स्वरूप और भावों की झलक मिलती है, वैसे ही दूसरे अनेक संस्मरण इस पुस्तक में नहीं आये। जब सन् १९३५ में, तुर्की की प्रसिद्ध महिला, बेगम हलीदा हानुम हिन्दुस्तान आई थीं, तब उन्होंने लिखा था कि, 'महात्मा गांधी, बीसवीं सदी के इतिहास की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण मूर्त घटना हैं कि उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, उनके बारे में यथाशक्य तटस्थ और प्रामाणिक संस्मरण लिखना ही चाहिए।'

यह काम अभी भी करना शेष है। यह उस दिशा में एक अत्यल्प प्रयास है, इससे अधिक कुछ भी, इस पुस्तक के बारे में नहीं कहा जा सकता। इसे पढ़ने पर पाठक देखेंगे कि पुस्तक में संग्रहीत किये गये संस्मरणों के लिए, या उसमें दी हुई घटनाओं के बारे में कुछ भी मतामत प्रकट न करके उन्हें अपने आप बोलने दिया गया है। जिसके परिणामस्वरूप प्रसंगों के रस में क्षति नहीं बल्कि वृद्धि ही हुई है, यह भी ज्ञात होगा। अधिकांश लेखों के शीर्षक भी मुझे ही बनाने पड़े हैं। इसके अतिरिक्त सभी महानुभावों ने अपने लेखों में आवश्यक सुधार करने की अनुमति दी, जिसके लिए मैंने उन सबों के सौजन्य का अनुभव किया है; साथ ही साथ उपर्युक्त मर्यादा का ध्यान रखकर उनकी अनुमति का यथास्थान उपयोग भी किया है।

इस प्रयास के लिए सरदार साहब का आशीर्वाद प्राप्त करने पर, लेखक या सम्पादक को कितना हर्ष होगा यह उल्लेखनीय नहीं। यहाँ जिनके जीवन-संस्मरण संग्रहीत किये गये हैं, वे ईश्वरकृपा से, हमारा जीवन-पथ प्रकाशित करने के लिए हमारे बीच मौजूद हैं। पारस के स्पर्श से पत्थर को सोना बनाने या तुलसीदासजी के शब्दों में कहें तो 'भांग को तुलसी बनाने की' उनकी शक्ति का परिचय, इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर होता है। सभी परिचयदाताओं ने, बहुत सी जगहों पर गांधीजी के वचन, शब्दशः तो नहीं लेकिन उन्हीं भावों के प्रति प्रामाणिक रहकर उद्धरित किये हैं। लेखक और लेखिकाओं में, श्री० ठक्करबापा जैसे गांधीजी के समवयस्कों से लेकर उनकी गोद में खेले हुए वनु (वनमाला) जैसे बालकों तक

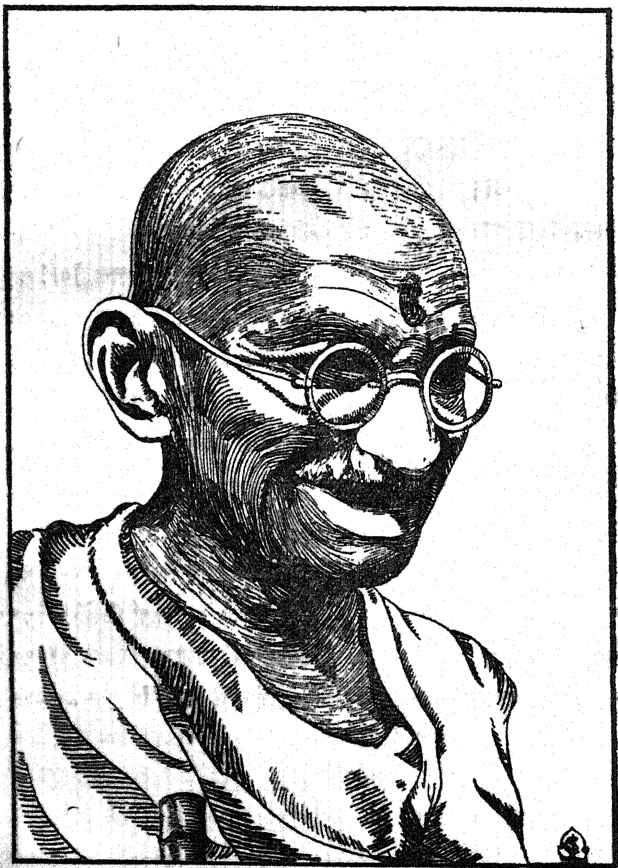
तीन पीढ़ियों के प्रतिनिधियों का समावेश होता है, यह भी एक सुयोग ही है। इनमें से बहुत से व्यक्ति गुजरात की जनता के लिए अतिशय आदर के पात्र हैं; इस पुस्तक में आंशिक रूप से उन महानुभावों का परिचय हो जाता है यह भी एक 'अनजाना' लाभ है।

पुस्तक की लेख-सामग्री बहुत जल्द तैयार हुई, लेकिन बहुत सी अकल्पनीय कठिनाइयों को लेकर इसे छपकर प्रकाशित होने में विलम्ब हुआ जिसके लिए मैं पाठकों के प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ। इस विलम्ब के कारण पुस्तक की उपयोगिता में कमी नहीं हुई, यही आश्वासन देना शेष रहता है।

बड़ौदा
१३-१०-४५

चन्द्रशंकर प्राणशंकर शुक्ल

अनुक्रमणिका



गांधीजी

लोकपुरुष

● अमृतलाल विठ्ठलदास ठक्कर ●

(१) सन् १९२० में जमशेदपूर में मजदूरों की सहायताके कार्य से निवृत्त होकर मैं बम्बई आया था। उन्हीं दिनों गांधी से पुकार की गई कि 'उड़ीसा में अकाल पड़ा है, वहाँ कष्टनिवारण के लिये कार्यकर्ता और धन भेजिए'। उन दिनों 'भारत-सेवक-समाज' के प्रधान श्री० श्रीनिवास शास्त्री थे, गांधीजी ने उन्हें कहा कि वे मुझे भेज दें। उनकी स्वीकृति मिलने पर मैं अपना बोरिया बिस्तर बांध कर तैयार हुआ। धन के लिए गांधीजी ने मुझसे कहा कि 'कार्य प्रारंभ करने के लिये ये पांच हजार रुपये देता हूं, और भीख मांगने पर जो कुछ मिलता रहेगा वह धीरे धीरे भेजता रहूंगा।'

उड़ीसा का कार्य कुछ मुश्किल है ही। खानेपीने का प्रबन्ध पहले एक मित्र के यहां और फिर एक अलग रसोइया रखकर किया; रहने के लिए एक मामूली घर ठीक किया। किंतु चाँवलों और गेहूं के आटे में जों कंकरियां खानी होती थी वह अभीतक दांतों को याद है। तथापि दस महीने वहां रह कर मैंने संतोषप्रद कार्य किया। गांधीजीने धीरे धीरे नवजीवन पत्रों के द्वारा प्रार्थना करके नबे हज़ार रुपये थोड़े थोड़े कर के भेजे; और उन्हीं की बदौलत मैं हज़ारों को मौत के मुंहसे बचा सका था। बीस वर्ष पहले छप्पन के अकाल में इंजीनियर के रूप में सेवा कार्य करने से जो तज़ुर्बे मिले थे उनसे इस काम में बहुत मदद मिली और बहुत कुछ नई बातें सीखने को मिली। पर इस काम में मुझे दो तीन महीनेही बीते होंगे कि माननीय शास्त्रीजी ने गांधीजी को लिख भेजा कि 'कृपया ठक्कर को वापिस भेजें तो ठीक हो।' इसका कारण यह था कि भारत–सरकारने 'भारत–सेवक–समाज' के एक सदस्य की मांग की थी जो दूसरोंके साथ जाकर ब्रिटिश गायना, ट्रीनी-

ड़ाड-वगैरह दक्षिण अमेरीका के छोटे छोटे देशों में जाकर वहां के भारतीयों की, जो मजदूर बनकर कई वर्षों से वहां बसे हुए थे, परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करें। गांधीजी ने जवाब भेजा कि 'वैसी जानकारी प्राप्त करने वाले आपको बहुत से मिल जाएंगे, पर उस गरीब प्रांत के अकाल निवारण के लिय कार्यकर्ता, उस प्रांत को या मुझे नहीं मिल सकते। आप किसी दूसरे से काम चला लें। मैं ठक्कर को नहीं भेज सकता।' गांधीजी का ध्यान अकाल-निवारण और अन्य पीड़ित मनुष्योंकी सेवा के कामों में शीघ्र चला जाता है। जब जब मजदूरोंकी, हरिजनों की, आदिवासियों और भूकम्प तथा बाढ़-पीड़ित लोगों की पुकार होती है तब वे अपने सब काम, यहाँ तक कि राजनैतिक कार्य भी छोड़ देते हैं और अपनी समस्त बुद्धि और शक्ति का उपयोग उसी के लिए करने लगते हैं। उड़ीसा प्रांत के लोग मूकप्राय हैं उन्हें अपने यहां के अकाल, बाढ़ और ग़रीबी का हाल दूसरों से कहना नहीं आता; गांधीजी ने ही भारत को उस प्रांत की ग़रीबी से अवगत किया है। उन्हीं के आग्रह से दीन-बंधु एण्ड्रूज़ ने मैंनें तथा हरखचंद ने जन सेवा के काम किये हैं और उन्हीं के द्वारा भविष्य म भी हमें प्रेरणा मिलेगी।

(२) एक बार मैं भी सन् १९२६ से दिनों में निराशा के शिकंजे में फँस गया था। देश की राजनैतिक परिस्थिति सुधरने के बज़ाय बिगड़ रही थी; नेतागणों में परस्पर मतभेद और वितण्डावाड होता रहता था। भील-सेवा के कार्यों में, जिनमें मैंनें भी चार बरस गुज़ारे थे, कोई विशेष प्रगति दिखाई नहीं देती थी। ऐसी ही निराशा की अवस्था में मैं एक रात को गांधीजी के पास गया और कहा—'मैंने तो विचार किया है कि यह सब सेवा काम भीलों की सेवा, भारत-सेवक-समाज आदि को छोड़ छाड़कर बद्रीनाथ हरद्वार या ऐसेही किसी स्थान पर बैठ कर जीवन के बाकी के वर्ष धर्म ध्यान में बिताऊँ!' कह कर मैंने अपने उद्गार निकाले।

गांधीजी कुछ समय तो शांत रहे फिर कहा—'ठक्कर बापा ! (तब तक वे मुझपर 'बापा' की ही छाप लगाते थे) देश में करने के लिए इतने काम होते हुए भी, ऐसे समय में तुम्हें यह क्या सूझा ? ढेरों सार्वजनिक काम पड़े हैं; तुम तो उन कामों में अभ्यस्त हो, तब भीलों और हरिजनों की सेवा-वृत्ति छोड़ही कैसे सकते हो ? यह तो मरने पर ही छूटेगी, पहले नहीं....' मैं तो अवाक् रहा गया। प्रायः चालीस वर्ष पहिले मेरे पिता को भी गृह-क्लेश और ग़रीबी के कारण ऐसी कल्पना हुई थी, और भावनगर से मथुरा जाकर पांच सात दिनों में वे वापिस आ गये थे। आज उस बात को क़रीब बीस वर्ष हुए हैं; उसके बाद कभी भी मुझे ऐसा पागल विचार नहीं आया।

(३) सन् १९३३-३४ में गांधीजी ने मेरी सूचना से हरिजन सेवा के प्रचार कार्य के लिए पूरे भारत का प्रवास करना तय किया; यह प्रवास, नौ महीने तक ज़ारी रहा। इसमें उड़ीसा का प्रवास पैदल तय किया था। मैं उनके साथ इस प्रवास में क़रीब छः महीने रहा, जिसकी स्मृतियाँ बड़ी मीठी हैं ! दोसौ सत्रह दिनों तक लगातार सब प्रांतों का प्रवास गांधीजी के अनेक भाषाभाषी भक्तों का परिचय, रोज हज़ारों आदमियों से भरी हुई तीन चार सभाएं, एक पैसे या एक आने से लेकर रोज हज़ारों रुपयों की दानवृष्टि, ज़ारी रही। प्रकाश्य सेवा के ऐसे अवसर बहुत ही कम मिलते हैं; यहाँ मैं उनमें से दो ही प्रसंगों का वर्णन करूँगा।

(४) उड़ीसा की बात है; हम लोग संबलपुर से सड़क के रास्ते कटक आ रहे थे; रास्ते के जंगली प्रदेश में अनगुल नामक एक छोटासा गांव पड़ता था; हमने वहीं तंबू तानकर डेरा डाला। सन् १९३४ में अनगुल 'नॉन-रेग्युलेटेड' प्रदेश था; अर्थात् वहां का कलक्टर इच्छानुसार नियम चला सकता था। उसने गांधीजी के दल को एक सार्वजनिक धर्मशाला में उतरने से मना कर दिया जिससे ठहरने में कुछ अड़चन

हुई। सारे प्रवास में पहली बार सरकारी विरोध का सामना हुआ। पर मुझे तो कुछ दूसरी ही बात कहनी है। यह के प्रदेश आदिवासियों का होने कारण वे लोग हज़ारों की संख्यामें गांधीजी के दर्शन के लिये आये; वे लोग गांधीजी के लिए एक पैसे, दो पैसे और एक आने की भेट लेकर आये थे, और वह भेंट वे स्वयं गांधीजी के हाथों में देना चाहते थे। गांधीजी की, हाथ में भेंट लेने की उत्सुकता बढ़ी और उसे उन्होंने पूरा कर दिखाया। भाषण का मंच क़रीब ७—८ फ़ीट ऊंचा था। उसी पर दो तीन घंटे बैठे रह कर, वे हाथ बढ़ा बढ़ा कर पैसे लेते रहे और उतने समय के लिये शौच स्नानादि सब कुछ भूल गये। फिर कहने लगे —'इसमें का एक एक पैसा मुझे तांबे का नहीं, सोने का लगता है; इतने पैसे इन लोगों ने कितनी मेहनत के बाद इकट्ठे किये होंगे; वे कितनी दूर से पैदल चलकर उमंग से इसे देने आये हैं, इसमें से एक को भी मैं कैसे लौटा सकता हूं!' सरकारकी नौकरशाही ने गांधीजी का अपमान किया पर ग़रीब आदिवासियों ने हज़ारों की संख्या में उमड़कर, उनके हाथों में अपनी अकिंचन भेंट देकर सम्मान किया। इसीलिए उन्हें 'लोकपुरुष' का नाम दिया है।

(५) हमारी मंडली त्रावणकोर राज्य के प्रमुख शहर त्रिवेंद्रम में ठहरी थी। हमारा डेरा भाई रामचन्द्रन् के मौसा के यहाँ था। प्रवास के समय ऐसा नियम रखा गया था कि म रात को आगे के दिन का कार्यक्रम बनाकर, टाइप करके, गांधीजी के सो जाने के पहले उनके तकिये के नीचे रख दूँ, जिससे दूसरे दिन सबेरे चार बजे, जब वे जागें, तो पढ़कर जहाँ जहाँ जाना हो इसका निश्चय कर लें; एक बार कार्यक्रम बन जाने पर उसमें मीन मेख नहीं निकाली जा सकती थी; स्वयं गांधीजी भी उसमें परिवर्तन नहीं कर सकते थे और कोई अन्य भी नहीं। त्रिवेन्द्रम में स्त्री-शिक्षा का अधिक प्रचार है इसलिए वहाँ स्त्री-संस्थाओं की भी कमी नहीं है। मैं किस किसको राज़ी और किसको

नाराज़ करूँ? निश्चित अवधि में ही सबको समझाना चाहिये। एक दिन सुबह मैं गांधीजी को नियम के विरुद्ध दो अधिक स्त्रीसंस्थाओं में ले गया। कुछ सप्ताह पहले भी मैंने ऐसी ही हरकत की थी, पर उस वक्त उन्होंने कुछ कहा नहीं। पर आज तो उन्होंने मेरी ख़ूब ख़बर ली; नाराज़ होकर या अपशब्द कह कर नहीं बल्कि कड़ी दृष्टि से, मुहँ पर क्रोध की सिलवटें लाकर और एक 'हुंकार' लेकर ही। मुझे तो लगा कि जैसे मुझपर गाज गिरी हो! अत्यन्त निकट रहते हुए भी यह मेरे लिए पहली घटना थी। मैं नियमविरुद्ध जाकर पछताया। पर कुछ हो जाने के बाद क्या किया जा सकता है? मेरा स्पष्ट दोष था और सज़ा भी ठीक ही मिली।

(६) पूज्य कस्तुरबा का, १९४४ की २२ वीं फ़रवरी को आगाखाँ महल में, कारागार में, अवसान हो गया। भाई देवदास ने उनकी सब क्रियाएँ पूना में ही सम्पूर्ण कीं। उनकी अस्थियाँ प्रयाग ले जाते हुए बंबई उतरकर कुछ मित्रों से उनकी स्मृति के लिए फंड की बात की गई, सबों ने सहमति दी। फिर दिल्ली पहुँचने पर धनवानों के सम्मुख यह योजना पेश की गई। आम सभा के सम्मुख पचहत्तर लाख की बड़ी रक़म के लिए प्रार्थना की गई। सौभाग्य से गांधीजी भी उसी वर्ष मई महीने में छूट गये; धन एकत्रित करने में जो जो कठिनाइयाँ थीं; वे इससे दूर हो गईं। इस निधि का उपयोग 'स्त्री और बच्चों' के लिए निश्चित किया गया था, किंतु बाद में वह उपयोग 'गाँवों के स्त्री और बच्चों' तक सीमित रह गया। लेकिन ७५ लाख के बदले ८० लाख के चेक गांधीजी के पास सेवाग्राम में उपस्थित हुए, और उन्होंने उसे स्वीकार किया। रक़म की पूर्ति होगी या नहीं ऐसी आशंकाएँ तो दूर ही हो गईं; इतना ही नहीं बल्कि जब निधि बंद की गई तब कुल संख्या १ करोड़ २८ लाख थी। कई बार आदर्श अपूर्ण रहते हैं, पर इस बार तो प्रभुकी कृपा स ड्योढ़े से भी अधिक मिले थे।

निधि में से किये जाने वाले कार्यों के लिए ट्रस्टियों और कार्य-कारिणी समिति की मंत्रणाएँ समाप्त हो गईं। कभी कभी तो गांधीजी कहते थे—मैं पैसों को दबा सकता हूँ पर बिगड़ने नहीं दे सकता; तुम इतनी जल्दी जल्दी मुझसे योजनाएँ मंजूर न कराओ; तुम लोगों को ऑफिस खर्च और फर्नीचर के लिए पैसे खर्च कर देना है, चाहे काम में देर ही क्यों न हो?......पर कभी कभी युक्तिपूर्वक, कभी और किसी रीतिसे और कभी लाड़ले देवदास की सहायता लेकर, हम तो मंजूर करा ही लेते! अप्रेल १९४५ में एक रात को, बंबई के बिड़ला हाउस में, कुछ मित्रों की उपस्थिति में गांधीजी ने कहा था—'देखो, ठक्करबापा, ये पैसे तो गरीब स्त्रियों के उपयोग के लिए हैं ही, पर यदि इसका कामकाज भी स्त्रियों के द्वारा ही हो तो ठीक! स्त्रियों का दुःख तो स्त्रियाँ ही समझ सकती हैं। हम तो सिर्फ मार्ग बता देते हैं, योजना बना देते हैं और उन्हें काम करना सिखा सकते हैं। अगर वे सीखने में भूल करें, काम बिगाड़ दें और पैसे अधिक खर्च करें तो भी कोई हर्ज नहीं है। जब तक हम बैठे हैं, जी रहे हैं तब तक याने जाने के पहले यदि स्त्रियों को उपयुक्त बनाने में समर्थ हो सके तो एक बहुत बड़ा काम हो जाएगा'......इतना ऊँचा आशय, ममता का त्याग, और स्त्रीजाति का सम्मान ये सब एक साथ एकत्रित कैसे हो गये? यही विचार करता हुआ मैं घर जाकर सो गया। वे शब्द अभी तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं!

(७) अब अंतमें एक ताजा अनुभव लिख कर प्रसंग समाप्त करता हूँ। १९४५ की जुलाई महीने की बात है। गांधीजी वेवल-परिषद के लिये शिमला जाते हुए दिल्ली में तीन घंटे के लिए ठहरे; इतने छोटे से समय में भी वह बीमारों को न भूले। दिल्ली में हरिजन निवास के पास ही क्षयरोग का अस्पताल है। वहाँ कई वर्षों से, कॉंग्रेस की कार्यकर्त्री, स्वामी श्रद्धानंद की पौत्री सरस्वती देवी बीमार थीं; गाँधीजी उन्हें

देखने पहुँच गये। किसने ऐसी आशा की थी कि रात को नौबजे वे दुःखियों को देखने जाएंगे ? जाते जाते कहते भी गये कि 'शिमला से लौटूँगा तो फिर तुझे देखने आऊँगा'। तदनुसार १७ जुलाई को 'चोर की तरह' किये गये प्रवास में वे सबेरे नौ बजे वहाँ पहुँच ही गये। हरिजननिवास पास ही था, बिना उसमें पैर रखे लौटाही कैसे जा सकता था ? वहाँ के लड़कों को भी सम्हाल लेना चाहिए। पर वहाँ की उद्योग-शाला में छुट्टी थी; अधिकांश लड़के अपने अपने घर गये थे; सिर्फ आसाम, आंध्र आदि दूर दूर के पैन्तीस लड़के थे। मैं उस समय बंबई में था। पाठशाल के व्यवस्थापक श्री० वियोगी हरि कुछ दिन विश्रांति के लिए नैतीताल गये हुए थे। पूछताछ करेन पर गांधीजा को मालूम हुआ कि दो क्षयरोग से पीड़ित लड़के वहाँ रह रहे हैं जिनमें एक इंदौर तथा दूसरा आजमगढ़ का था। वे उन दोनों की निश्चित व्यवस्था करने की सूचना देकर शिमला रवाना हो गये। शिमला पहुँचने पर पहला पत्र मुझे लिखा (तब तक मैं दिल्ली पहुँच गया था) जिसमें पूछा था कि 'उन दोनों लड़कों की क्या व्यवस्था की है ?' इसी बीच श्री० वियोगी हरिजी ने इंदौर वाले लड़के को शिमला के पास के धरमपुर सेनेटेरियम में मुफ्त भर्ती कराकर उसे वहाँ भेज भी दिया था। दूसरे के बारे में डॉक्टर ने कहा कि उसका रोग असाध्य है, उसे सेनेटोरियम में नहीं रखते' इस लिए उसे एक आदमी के साथ उसके घर भेज दिया था। जब मैने ये सब समाचार उन्हें लिखे तो उन्हें संतोष हुआ। जब ता. १७ जुलाई को पन्द्रह मिनट के लिए ही हरिजन-निवास को देखने गये तो उन दो लड़कों की तबियत के बारे में पूछना वे भूले नहीं।

(८) सन् १९१५ में दक्षिण आफ्रिका से भारत आने के बाद, मद्रास इलाके में घूमते हुए गांधीजी को मालूम हुआ कि उनका एक पुराना सहकारी तामिल मित्र कुष्ठ रोग से पीड़ित है; उसके घावों में से पीब निकलता था। गांधीजी ने अपने हाथों से उन घावों को धोकर

पट्टियाँ बांधी थी जिसका वर्णन श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने अंग्रेजी में किया है, पाठक उसे पढ़ने का कष्ट करें। कस्तूरबा ट्रस्ट कि निधि में से सब से पहले जिन जिन योजनाओं कि स्वीकृति हुई थी उनमें से दो अस्पताल स्त्री और बच्चे कुष्ठरोगियों की सेवा केलिए बने थे; एक तो वर्धा के पास दत्तपुर में हैं, और दूसरा दक्षिण आर्कट जिले में वडुलूर गाँव में है। गांधीजी की इस योजना से कई सज्जनों को आश्चर्य हुआ था। हमारे देश के कोढ़ी स्त्री–पुरुषों के लिये अभी ऐसे सैकड़ों आश्रमों की आवश्यकता है ।

दिल्ली-२२-७-४५



प्रथम-परिचय

• नानाभाई भट्ट •

मेरे विशेष-परिचित मित्र साधारणतया यही मानते हैं कि मैं गाँधीजी के पास बहुत दिनों से रहा हूँ। हम लोगों में एक कहावत है कि 'मगर की मादा अपने अंडे समुद्र के किनारे पर रखती है, और वह ख़ुद समुद्र में रहकर सिर्फ दृष्टि से उन्हें सेती है।' इसी तरह गांधीजी ने भी मुझे दूर ही रखकर, मेरी देखभाल की है, यह मेरा सौभाग्य है। मेरी अपनी यह मान्यता है कि हम महापुरुषों के बहुत नज़दीक रहकर अपनी इच्छानुसार उन्नति नहीं कर सकते, और कई बार तो ऐसा भी होता है जब हम उन महापुरुषों को अपने जैसे साधारण मनुष्य समझने की भूल कर बैठते हैं। बहुत ही समीप रहकर भी उनके सही मूल्यांकन में भूल न करना, यह मुझ जैसे साधारण प्राणी कि शक्ति के बाहर की बात है। भागवत्कार कहते हैं कि 'क्षीरसागर में रहनेवाली मछलियाँ, क्षीरसागर से उत्पन्न हुए चन्द्रमा को भी अपने जैसी ही एक मछली मानती है; उसी तरह यादवों ने भी श्रीकृष्ण को भी उन्हीं जैसा एक साधारण मनुष्य माना, और यही भ्रम उनके विनाशका कारण हुआ।

सादी मोटी धोती, नीचे नंगे पैर, कमर पर सूत की मेखला बन्ददार अंगी और सिर पर काठियावाड़ी साफ़ा बाँधे हुए एक पुरुष को लेकर सर प्रभाशंकर, पट्टणी दक्षिणामूर्ति देखने आये। उन दिनों हम लोग तख्तेश्वर प्लॉट में एक किराये के मकान में रह रहे थे। मैंने आगन्तुक मेहमानको वहाँ के सभी कमरों में घुमाया; वहाँ का पुस्तकालय दिखाया, निवासस्थान बताया, साथ ही साथ व्यायामशाला और पाखाना भी बता दिया, और अपने रहने की छोटी सी कोठरी को

बताना भी न भूला। सर प्रभाशंकर और नये मेहमान ने सब कुछ देखकर सिर हिलाया और धीमी आवाज से कहा–'कभी अहमदाबाद आयें तो मुझसे मिलें।' मेहमान के चलने का ढंग, सब कुछ देखने का तरीका, आँखों की चपलता, और शब्दों की मृदुलता ने मेरे मन पर काफ़ी असर किया। तब सर प्रभाशंकर ने पूछा–'विज़िट बुक कहाँ है ?' मैंने कहा—मैंने विज़िटबुक रखी ही नहीं है, अगर आपको कुछ कहना हो तो मुझे ही बता दें, मैं आभारी हूँगा।'

तब मेहमान ने दाहिने हाथ की तर्जनी ऊँची की और मुस्कराये, मैं समझा कि वे कहते हैं कि मैंने विज़िटबुक न रखी, यह ठीक ही किया।

बंबई का कोलाबा स्टेशन था; गुजरात मेल और काठियावाड़ मेल दोनों रात को आधे घंटे के अन्तर से रवाना होते थे। म काठियावाढ मेल से जानेवाला था। मैं सामान कुली को सौंपकर टिकट लेने जा रहा था कि देखा गांधीजी बगल में छोटो सी गठरी लेकर वहीं घूम रहे हैं। मुझे देखते उन्होंने पूछा–'यहाँ कैसे ? कहाँ जा रहे हैं ? 'जी, भावनगर जा रहा हू !' मैंने कहा। 'तब एक दिन क लिए अहमदाबाद ही उतर जाइये, मैं पहले मेल में जा रहा हूँ !' 'अच्छा, मैं आऊँगा' मैंने कहा।

अहमदाबाद उतर कर मैं सीधा कोचरब के आश्रम में गया। स्वामी आनन्द मुझे पहचानते थे, इसलिए मेरी दुविधा कुछ कम हुई। वहाँ मैं पूरे तीन दिन रहा। वहाँ रहकर म बिना कुछ कहे सुने सिर्फ देखा करता था। महात्माजीने चक्की पीसते वक्त मुझे भी साथ लिया; ऐसे महापुरुष के साथ चक्की का हत्था सम्हालने का सौभाग्य मैं कभी नहीं भूल सकता। मुझे आश्रम के अन्य काम जैसे–पीसना, पाखाना साफ करना, पानी भरना वगैरह बिल्कुल स्वाभाविक ही मालूम हुए।

पर मेरा ध्यान तो इस सादगी के पीछे छुपी हुई 'फ़िलासफ़ी' को जानने की ओर था; और इन तीन दिनों में मैंने वह फ़िलासफी शक्ति भर समझने का निश्चय किया था।

ठीक उन्हीं दिनों काका कालेलकर भी आश्रम में पहले पहल आये, और स्वामीजी ने उनसे मेरी पहिचान कराई।

तीन दिन रहकर, मन ही मन महात्माजी को वन्दन करके मैं चला आया।

उस दिन से आज तक के अर्से में गाँधीजी के प्रति मेरे आकर्षण में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। मैं उनकी दार्शनिकता समझ सका हूँ या नहीं, यह नहीं जानता; और यह भी नहीं जानता कि मैं उन्हें ठीक ठीक पहिचान सका हूँ या नहीं। फिर भी न जाने क्यों मैं उनकी ओर खिंचता ही रहता हू और उनके प्रतीक की तरह अपने प्यारे उपनिषदों और गीता को पढ़ा करता हूँ।

आंबला, २०–७–४६



बीस वर्षों के संस्मरण

• जयसुखलाल कृष्णलाल मेहता •

शाम का वक्त था; थके हारे व्यापारी, क्लर्क, स्कूल और कॉलेज के शिक्षक तथा शिष्यगण घर की ओर जा रहे थे; सबों का लक्ष्यस्थान बंबई फोर्ट का चर्चगेट स्टेशन था, क्यों कि वहाँ से गाड़ी मिलने पर बंबई या उपनगर के किसी भी स्टेशन पर जाया जा सकता है। मैं क़रीब सात बजे की गाड़ी में बैठता था, इसलिए साढ़े छः से पौने सात तक स्टेशन पर आ पहुँचता था। उस दिन, रोज की तरह प्लेटफार्म पर आते ही श्री० रेवाशंकर जगजीवन को देखा, वे नगर के एक मुख्य जौहरी थे; स्वदेशी व्यापारी चेंबर की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी थे, और सान्ताक्रुज़ के प्रसिद्ध नागरिक होने के नाते मैं उन्हें अपना शुभचिंतक मानता था। उनसे मेरा सम्बन्ध बहुत सुंदर था। मुझे देखते उन्होंने बुलाया; तब ही मेरा ध्यान उनके साथवाले महाशय की ओर गया। घुटनों तक की मोटी धोती, काठियावाड़ में जिसे 'अंगरखा' कहते हैं वैसी एक पैबंद अंगी, बड़ा-सा काठियावाड़ी साफ़ा—यह सब देखते ही मुझे लगा कि ये गांधीजी ही होंगे। (उन दिनों वे 'महात्मा' नाम से प्रसिद्ध न थे) रेवाशंकरजी ने हम दोनों की एक दूसरे से पहचान कराई; मैंने उनके पैर छुए। गांधीजी ने अपनी हमेशा की मीठी मुस्कान के साथ परिचय प्रारम्भ किया; 'लोकल ट्रेन' के आने पर हम सब साथ ही साथ उसमें बैठे; हमें सान्ताक्रुज़ तक उनके साथ बातें करने का अवसर मिला। रेवाशंकरजी का बंगला मुझसे अधिक दूर न था, इसलिए मैं आये दिन वहाँ गांधीजी से मिलने जाया करता था। आज उस बात को करीब तीस वर्ष हो गये, इसलिए उनके साथ हुई बातों की ठीक ठीक याद नहीं है।

उन दिनों स्वदेशी व्यापारी चेंबर के सभापति शेठ जहांगीर बमनजी पीटिट थे; उन्होंने अपनी शानदार बंगले में गांधीजी को एक बड़ी पार्टी

दी थी। जलसा ख़ूब शानदार बन पड़ा था। रंगबिरंगी साड़ियों और फ़ॅशनेबल सूटों के बीच इस काठियावाड़ी ग्रामीण को देखकर उस वक्त के बंबईवासी को जाने क्या क्या विनोद सूझता जिसे सुनकर हँसी आये बिना न रहती थी। जब स्व० सर फ़िरोज़शाह ने उनका हाथ पकड़कर सब ओर घुमाया तब ही विनोदी बंबईवासियों को विश्वास हुआ कि यह व्यक्ति कोई साधारण ग्रामीण नहीं है बल्कि अपना एक ख़ास व्यक्तित्व रखता है। उन दिनों गांधीजी द्वारा आफ़्रिका के सत्याग्रह वग़ैरह की बातों से देश अनजानसा था। जब गांधीजी उस अलीशान जलसे में सर फ़िरोज़शाह के साथ घूम रहे थे, तब उन्हें मालूम था कि वहाँ की शौक़ीन जनता में उनकी पोशाक वग़ैरह के बारेमें आलोचना होती होगी; किन्तु उस वक्त भी उनकी संयमित मुखमुद्रा, और नेतृत्व की क्षमता सबका ध्यान उनकी ओर खींचती थी, और ऐसा लगता था कि यह आदमी भारतके लिए कोई संदेश लिये है।

उसके बाद बहुत दिन बीत गये, जब मैं अपने एक मित्र श्री० गट्टुभाई के यहाँ अहमदाबाद गया। उस वक्त अहमदाबाद में गांधीजी पुल के उस पार बॅरिस्टर जीवनलाल के बंगले में रहते थे, और तब ही से उस बंगले का नाम 'सत्याग्रहाश्रम' रखा गया था। उस वक्त महात्माजीके बारेमें बहुत सी झूठी सच्ची बातें फैलाई जाती थीं; मैंने ऐसे ही उनसे मिलने का निश्चय किया। जब मैं गया तब वे चक्की पीस रहे थे। उस दिन उनके साथ आश्रम, वहाँ के कानून और नियमों और ख़ुराक के बारे में मैंने बहुत सी बातें कीं।

उसके बाद भी बरसों बीत गये; इस अर्से में मैं गांधीजीके ख़ास संम्पर्क में नहीं आया। उन दिनों देश की हालत नाज़ुक होती जा रही थी। मैं कम से कम इतना तो जानता ही था कि दक्षिण आफ़्रिका से 'सत्य प्रयोग' करके आने वाले महात्माजी कोई मामूली आदमी नहीं हैं। इन्हीं दिनों नया रोलेटएक्ट (कालाक़ानून) जारी हुआ,

और उसके विरुद्ध गांधीजी का आन्दोलन भी! उसके बाद लगातार जालियाँवाला बाग-कांड, कलकत्ते का काँग्रेस अधिवेशन और नागपुर की बैठक हुई। नागपुर बैठक के बाद प्रत्येक प्रांत और हर ज़िले में काँग्रेस कमेटियाँ स्थापित होने लगीं। बंबई के उपनगरों की कांग्रेस कमेटीके प्रधान स्व. श्री. विठ्ठलभाई पटेल बने, और उपमंत्री के लिए मेरी नियुक्ति की गई। इसी अरसे में गांधीजी बंबइ आये और श्री. रेवाशंकर के यहाँ ठहरे, जहाँ मैं श्री. विठ्ठलभाई पटेल के साथ उनसे मिलने गया। श्री. विठ्ठलभाई और श्री. रेवाशंकरने उन्हें मेरी पहिचान दिलाई। यों तो गांधीजी मुझे पहचानते थे, लेकिन श्री. विठ्ठलभाई ने अपने ख़ुशमिज़ाज पन से मज़ाक में कहा—'आज ही से कंठी (माला) डाली है।' मैं सांताक्रुज़ काँग्रेस कमेटी का प्रमुख था, दूसरे उपनगरों और सांताकुज़ की ओर से मुझे बार बार महात्माजी से मिलना होता था। सांताक्रुज़ पर उनकी शुभ दृष्टि हमेशा बनी रहती थी, और तिलक-स्वराज्य-फंड एकत्रित करने और विदेशी कपड़ों को जलाने का जो कार्यक्रम शुरू किया जानेवाला था, महात्माजी की इच्छा थी कि वह सांताक्रुज़ से ही शुरू हो। क़रीब क़रीब बंबई के सभी उपनगरों, जैसे सांताक्रुज़, विलेपार्ले, घाटकोपर, बांद्रा में तिलक स्वराज्य फंड के लिए सभाएँ हुई, इन सभाओं में हज़ारों की संख्या में लोग आते थे। उन दिनों साथ ही साथ खादीप्रचार चर्खा-प्रचार प्रभात फेरी निकलने वग़ैरेह के कार्य भी प्रारंभ हुए। किंतु कपड़े जलाने के बारे में श्री. विठ्ठलभाई और मेरा गांधीजी से मतभेद था; प्रथम महायुद्ध के कारण, टर्की वग़ैरह देशों में कपड़े की भीषण कमी थी, इसलिए बहुतों की यह इच्छा थी कि वह कपड़ा जलाने के बदले ऐसे देशों को भेज दिया जाय। गांधीजी ने श्री. शंकरलाल बैंकर के साथ मुझे सन्देश भेजा कि—'उनका विचार कपड़े जलाने का यज्ञ सांताक्रुज से शुरू करने का है!' यह मेरे लिए धर्मसंकट का समय था।

विठ्ठलभाई ने मुझसे कहा कि—'आप महात्माजी के पास जाकर उन्हें समझाइये' मैंने जवाब दिया—'महात्माजी एक बार निश्चय कर लेने के बाद फिर उसे बदलते नहीं। फिर भी मैं उनके पास गया, और दो घंटे तक बातें कीं; गांधीजी ने कहा—'हमारा 'मैल' छुड़ाकर पड़ोसी को नहीं दिया जा सकता; हम यह सांताक्रूज़ से ही शुरू करेंगे'......मैं तो पहले से ही, वश में हो गया था; विवश होकर दो ही घंटे में सब व्यवस्था करने की जवाबदारी अपने उपर ली, और सांताक्रुज़ में रात को आठ बजे गांधीजी के हाथों विलायती कपड़े की होली जली! तब तो प्रत्येक उपनगर में वैसी अनेक होलियाँ जलीं। जिस तरह 'तिलक-स्वराज्य फंड' के लिए उपनगरों में से क़रीब तीन लाख रुपये इकट्ठे हो गये थे, उसी तरह कपड़े जलाने के आन्दोलन में भी वहाँ की जनता द्वारा अच्छा सहयोग मिला। हजारों रुपयों का विदेशी कपड़ा जला दिया गया। जो भी लोगों ने उस होली में अपने सर्वस्व की आहुति नहीं दी थी तो भी ऐसे बहुत से थे जिन्होंने अपने सभी विदेशी कपड़े जला दिये थे। 'कपड़े जलाना' यह तो एक नाम था उस भावना का कि हमारे दरिद्र देश ने भी विदेशी कपड़ों के मोहजाल से छुटकारा पाया है। सबेरे और रात को गांधीजी के इस आन्दोलन की धूम होती थी; दोपहर को भी श्री० देवशंकर के यहां उन्हें मिलना होता था। जिस वक्त बहुत से बज़ाज़ों ने विलायती कपड़ा छोड़ देने की प्रतिज्ञा की उस वक्त मैं वहां हाज़िर था, और जब स्व. देशबंधु दास का इस आशय का तार आया कि 'तिलक-स्वराज्य-फंड' में एक करोड़ रुपया एकत्रित हो चुका है तब भी मैं वहीं था। वह जीवन का एक अमूल्य अवसर था जब मुझे एक जीवन के तेज, उत्साह और समर्पण को निकट से देखने का सौभाग्य मिला।

उसके बाद मैं यूरोप गया; जब वहाँ से लौटा तब गांधीजी जेल में थे, और स्वराज्य का पहला आंदोलन क़रीब क़रीब समाप्त हो चुका था।

कुछ दिनों के बाद जब गांधीजी के ऑपरेशन के लिए उन्हें छोड़ा गया तब १९२४ में मैं उन्हें पूना के ससून हॉस्पिटल में देखने गया। वहाँ भी मैंने वही शांति और धीरज के साथ आशामयी मधुर मुस्कान देखी। उसके बाद महात्माजी जुहू आये और सेठ शांतिकुमार के बंगले में ठहरे। मैं सप्ताह में दो तीन बार सुबह उनसे मिलने जाया करता था क्यों कि मेरा विचार था कि म 'गांधी–अर्थशास्त्र' नाम की एक पुस्तक लिखूं। पहले गांधीजी के साथ इस विषय में संपूर्ण चर्चा करने के बाद मैं पुस्तक के प्रकरण लिखता था। मेरे दुर्भाग्य के कारण यकायक गांधीजी वहां से चले गये और अर्थशास्त्र अधूरा रह गया। फिर भी उन डेढ़-दो महिनों में गांधीजो के साथ जो सम्पर्क स्थापित रहा उसके लिए मुझे संतोष है।

सन् १९२५-२६ में देश में राजनीतिक आन्दोलन की पूर्व भूमिका तैयार हो रही थी और इस विषय में केन्द्रीय असेम्बली में सरकारी और राष्ट्रीय पक्षों में तीव्र मतभेद और संघर्ष होता रहता था। राष्ट्रीय पक्षवालों ने स्वाभाविक ही गांधीजी और स्व. पं. मोतीलाल नेहरू से सहायता की मांग की। इस विषय में गांधीजी ने बताया कि उन्हें देशी व्यापारियों को दृष्टिबिंदु समझाने के लिए मैं खुद उनसे मुलाकात करूं; उस मुजब मैं जाकर चार पांच दिन उनके पास रहा। सुबह शाम जब वे घूमने जाते तो मैं भी उनके साथ ही जाता था। वे तरह तरह के सवाल पूछते और मुझे उनका जवाब देना होता था। कुछ भी निर्णय करने के पहले गांधीजी पहले अपने मन से ही पूछ लेते थे कि इस तरह के विचारों का समर्थन करने वाले स्वयं प्रामाणिक और देशहित का विचार करने वाले है या नहीं। मुझसे बातचीत करने के बाद इस विषय में उन्होंने कलकत्ता के स्व० बी० एफ० मदन के साथ भी चर्चा की थी।

सन १९२७ में गुजरात में भयंकर बाढ़ आई और बंबई में सर पुरुषोत्तमदास के अध्यक्षत्वमें बनाई हुई समिति के मंत्रीके रूप में मैंनें तीन

वर्ष तक गुजरात की मदद के लिए मेहनत की। इस कार्य को मैंने गांधीजी का ही काम समझा था। उसके बाद स्वराज्य के लिए दूसरा आन्दोलन शुरू हुआ। जब सन् १९३२ में गांधीजी यरवदा जेल में थे तो वहीं उन्होंने हरिजनों के प्रश्न पर अनशन करना शुरू किया। म सेठ मथुरादास बसनजी के साथ गांधीजी से मिलने के लिए जेल में दो तीन बार गया। उस वक्त वह जेल न होकर कोई परिषद्-भवन मालूम होता था जहां के उस चौड़े आँगन में बड़े पेड़ के नीचे अखंड वादविवाद जारी रहता था। किंतु दूसरी ओर भयंकर चिंता यह थी कि हरिजनों के लिए जो समझौता हुआ था उस पर अगर सही होने में देर हुई तो ईश्वर क्या ऐसी हालत में उनकी जिंदगी के दिन और बढ़ाएगा ? ... पर अंत में समझौता हुआ और करार पर सहियाँ हुईं। उसके बाद 'हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना हुई। उसकी बंबई-प्रांतीय शाखा के अध्यक्ष पद पर सेठ मथुरादास की नियुक्ति हुई और मैं मंत्री बनाया गया। कुछ वर्षों के बाद सेठ मथुरादास ने अध्यक्षपद से इस्तीफा दिया और मुझे अध्यक्ष बनना पड़ा। गत साल ही मैंने अध्यक्षपद छोड़ा है। 'तिलक-स्वराज्य-फंड' की तरह 'हरिजन-आंदोलन' के लिए भी बंबई के उपनगरों से चंदा उगाहने के लिए खूब मेहनत की। सन् १९३३ की फरवरी में मुझे सख्त बीमारी का शिकार होना पड़ा था; तब गांधीजी ने लिखा था—'आपका पत्र पढ़कर हम सब बहुत खुश हुए। बराबर आराम लेने के बाद शरीर बिलकुल ठीक करके ही फिर से काम शुरू करना, कुछ जल्दी नहीं है। तबियत के सुधार की खबर लिखना या किसी से लिखा देना; ईश्वर आपको दीर्घायु करे।'

सांताक्रुज़, १९-७-४५



गांधीजी के साथ के शुभ प्रसंग !

• डॉ. हरिप्रसाद व्रजलाल देसाई •

(१) जब सन् १९१५ में दी.ब. अंबालाल साकरलाल का अवसान हुआ तो अहमदाबाद का नेतृत्व करने वाला कोई न था। उसके पहले हमारे यहाँ के मित्रमंडल ने स्वदेश के गीतों के साथ मुहल्ले मुहल्ले में आम सभाएँ कीं, जहाँ स्वदेश के लिए व्रत और भारतमाता की पूजा की योजना करके स्वदेशी स्टोअरों और रात्रिशालाओं के द्वारा तथा गांव गांव में पुस्तकालय, अंग्रेजी स्कूल और 'उद्बोधन' मासिक निकालकर शहर में और आसपास राष्ट्रीयता फैलाने के खूब प्रयत्न किये। नया क्रांतिकारी साहित्य प्रकाशित करने के लिए 'दादाभाई लायब्रेरी' की भी स्थापना की गई। लाला लाजपतराय और मिसेज़ एनी बेसेंट को भी विशेष निमंत्रण देकर अहमदाबाद बुलाया गया था।

उन्हीं दिनों खबर मिली कि मोहनदास गांधी स्वदेश आ रहे हैं, व अहमदाबाद स्टेशन होकर राजकोट जा रहे थे, इस लिए मैं उनके लिए स्वागत की तैयारी करने लगा, पर उसके पहले ही गांधीजी ने समाचारपत्रों में वक्तव्य दिया कि 'मुझे अपने बड़े भाई की मृत्यु का शोक है इसलिए कोई भी भाई स्टेशन पर न पधारे।'

हमारे उस वक्त के नेतागण यों भी ठंडे तो थे ही, और हो सकता वहां तक खतरनाक राजनीति से दूर रहते थे। उनके लिए तो 'रुच रहा था और वैद्य ने कह दिया' वैसी ही बात हुई। किंतु मैं गुजरात सभा का सदस्य नहीं था और व्यक्तिगत रूप से मुझे स्टेशन पर जाने के लिये कोई रुकावट नहीं थी। तीन चार दिन पहले से ही मैं गाड़ी का ध्यान रखने लगा और ठीक उसी दिन, जिस दिन गांधीजी सहकुटुम्ब जानेवाले थे, पहले से खबर पाकर मैं स्टेशन पहुंचा।

दक्षिण अफ्रिका से आने के बाद् स्व. गोखलेजी ने वहां के आन्दोलन का यहां काफ़ी प्रचार किया तथा स्व० फ़िरोजशाह मेहता ने भव्यता के साथ कस्तूरबाकी वीरता का भारत में प्रचार किया था। उन्हें लगता था कि दयानंद् सरस्वती और दादाभाई नौरोजी के बाद् गांधीजी ही तीसरे महान गुजराती हैं।

स्टेशन पर गाड़ी ठीक समय पर आई। सुरेन्द्र मेढ़ के पिता दूध और नाश्ता वगैरह लेकर आये थे; वे गांधीजी और बा (कस्तूर) को लेकर वेटिंग रूम में गये; मैं भी उनके पीछे पीछे गया। गांधीजी उस वक्त काठियावाड़ी अंगरखा (अंगी) और साफ़ा पहने थे। मैंने नमस्कार करते ही कहा–'सारा शहर आपसे मिलने के लिए उत्सुक था, लेकिन किसी को स्टेशन पर न आने का आपका आदेश था, इस लिए कोई भी आ न सका; पर सबों की यही इच्छा है कि आप वक्त निकाल कर एक बार अमदाबाद् पधारें।'

गांधीजी ने मुस्कराकर कृतज्ञता प्रकट की, और बताया कि मैं समय वग़ैरह निश्चित करके उन्हें राजकोट पत्र लिखूं।' सौभाग्य से उस दिन गाड़ी लेट हुई; और मैं उनके डब्बे के सामने खड़े रहकर और फिर कंपार्टमेंट के भीतर की पटरी पर बैठकर लगातार उन्हें देखा ही किया, ...कान परिमाण में कुछ बड़े मालूम होते थे, रूप कुछ अधिक सुन्दर न था, फिर भी मुख पर की गंभीरता देखकर मुझे ऐसा लगता था कि यह गंभीरता देश ही के लिए हैं। घर आकर मैं गुजरात सभा के मंत्री श्री. पाटिल से मिला और उनसे स्टेशन की सब बातें कहकर गांधीजी के लिए निमंत्रणपत्र भेजने पर ज़ोर दिया। उन्होंने पत्र लिखा और तीन चार दिनों में उसका जवाब भी आ गया कि–'अहमदाबाद् के 'महाजन' का उपकार मानता हूँ मैं अमुक दिन अमुक गाड़ी में आऊंगा !' मैंने गांधीजी की वाणी में 'महाजन' शब्द् को पुनः प्रतिष्ठित होते हुए देखा क्योंकि उस वक्त महाजन लोगों के प्रति जनता के हृदय में ज़रा

भी आदरभाव न था। श्री. पाटिल ने हमें सन् १९०२ के कांग्रेस अधिवेशन की याद दिलाई, जब कांग्रेस के राष्ट्रपति श्री. सुरेन्द्रनाथ बॅनर्जी थे और यह कहकर हमें निश्चिन्त किया कि 'उस वक्त की तरह स्वागत समारोह करना, पैसे की फिक्र न करो।' नहीं तो उसके पहले लालाजी और मिसेज बेसेंट के स्वागत समारोह के वक्त तो हमें पुष्पमालाओं और झंडियों के खर्च के लिए भी मुश्किलें उठानी पड़ी थीं। इस बार स्वागताध्यक्ष स्व. सर चिनुभाई माधवलाल थे। हमारे पत्र के जवाब में गांधीजी ने मुख्य बात यह लिख दी थी कि-'मैं नई पूंजी से व्यापार करना चाहता हूं, मेरी दक्षिण आफ्रिका की सेवाएं आप भूल जाएं।'

स्वागत के अन्तर्गत शामको गुजरात क्लब में 'इविनिंग पार्टी' की योजना की गई थी, पर उस वक्त गांधीजी के साथ किसी ने कोई खास बात न की; वह दशा बिना मालिक के ढोरों जैसी थी। हमें वहां दी. ब. अम्बालाल की कमी अखर गई। आखिरकार, जैसे स्टेशन पर बात की थी उसी तरह यहां भी मैंने ही उनसे मौलिक चर्चा शुरू की। मैंने तब आविष्ट होकर अपने मित्रों और परिचितों से गांधीजी की पहिचान कराना शुरू की, और क्रमशः 'सुंदरी सुबोध' के सम्पादक राममनोहर राय देसाई, स्वदेशी मित्रमंडल के मंत्री कृपाशंकर पंडित, व्यायामशालाओं के नियोजक अंबुभाई पुराणी, रात्रिशालाओं के प्रिन्सिपल रतनशहा लाहेर, हमारे एक स्वयंसेवक वृन्दावन कंसारा और उन कई विद्यार्थियों का, जिन्होंने एक दिन उपवास करके बचाये हुए पैसे दक्षिण आफ्रिका के फंड में भेजे थे, गांधीजी से परिचय कराया। ये सब छोटे—बहुत छोटे—लोग थे, किन्तु इन सबों में बड़प्पन के सभी लक्षण मौजूद थे।

पार्टी में दी गई, उपहार की अनेक चीजों में से गांधीजी ने किसी को छुआ भी नहीं; वे मेज के पास की एक सादी कुर्सी पर बैठे हुए थे। उस वक्त दूसरे तो मुठियां भर भर कर खाने में तल्लीन थे। रासबरी,

सोढ़ा, जिंजर और लेमन की बाटलियां खाली होती जा रही थीं और चाय के कप भी। आइस्क्रीम भी जमा न रह सका था। जब वृन्दावन गांधीजी को फल वगैरह देने लगा तो उन्होंने न लिये, सिर्फ़ कुछ अंगूर हथेली पर लेकर हम लोगों को सन्तुष्ट किया।

मेरे लिए तो यही घटना प्रेरणामयी थी; मैं अपने आप को सौभाग्य-शाली समझने लगा। तब मैंने हिम्मत करके मन की बात आख़िर कहना शुरू कर ही दी—'मैं निवेदन करता हूं कि आप अहमदा-बाद को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाएं; काठियावाड़ में कुछ नहीं हो सकता। और बंबई के लिए तो हमारे दी. ब. अम्बालाल कहते थे कि 'बंबई ही कुछ हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि नहीं है। आप जितने चाहें स्वयंसेवक यहां मिलेंगे और पैसों का तो आप के चरणों में ढेर लग जाएगा।'

दूसरे दिन मैंने दादाभाई लाइब्रेरी, स्वदेशी स्टोअर्स वगैरह दिखाए। जब वे दादाभाई लाइब्ररी का जीना उतर रहे थे तब मुझे स्व० गोखले-जी का एक वाक्य याद आया कि—'गांधी तो मिट्टी में से भी वीर-पुरुष उत्पन्न करता है।'...वे अहमदाबाद की प्रवृत्ति के बारे में कुछ कुछ पूछ लेते थे; हमने उन प्रश्नों के उत्तर में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जो झूठ हो सकता था; और इसका कारण हमारे सत्यवादी स्वभाव की अपेक्षा स्व० गोखलेजी का वह वाक्य था—'गांधी के सामने कोई असत्य का एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता...' इस विषय के तो बाद में भी मुझे बहुत प्रमाण मिले हैं। कई बार जब मैं जाता तो पहलेसे निश्चित कर लेता था कि मुझे उनसे क्या क्या बातें करनी हैं। उन बातों में से झूठ का अंश आप ही अलग हो जाता था। किन्तु कई बार मैं ऐसा सोचकर जाता था की अमुक बात मुझे उनसे नहीं करनी है किन्तु जब जब मैं उनसे बातें करना शुरू करता, तब जो नहीं कहना होता वह सबसे पहले कहा जाता था।

(२) फिर तो गांधीजी सचमुच ही अहमदाबाद आये, और करीब १५ साल तक अपना निवास साबरमती के किनारे आश्रम में रखकर राष्ट्र की महापूजा शुरू की। मैंने कभी उनसे पूछा भी नहीं कि 'गुजरात-क्लब में मैंने जो निवेदन किया था, उसका असर उनके इस निर्णय में आया था नहीं ?... कुछ भी हो, पर मैं यह मानता हूं कि उनके अहमदाबाद-निवास का थोड़ा बहुत श्रेय तो मुझे मिलना ही चाहिए। जब वे कोचरब आश्रम में रह रहे थे तब मैं रोज शाम को वहां जाकर उनकी प्रार्थना में भाग लेता था, और जब वे रस्किन कृत 'अन्टु दिस् लास्ट' पढते तब मैं भी सुनता था। जब ठीक एक महीना बीत गया तब मुझसे और मेरे मित्र हरिप्रसाद पीतांबरदास मेहता से पूछा कि—'आप का नाम क्या है ? आप क्या करते हैं ? वगैरह। उस दिन मैंने मेहतासे कहा—'आज हमारी पूजा सफल हुई'।

उसके बाद आश्रम का नाम रखने के बारे में चर्चा चली; गांधीजी ने कहा—'चलो हम शहर के ख़ास ख़ास नागरिकों से सलाह लें; पर नागरिक कौन हैं इसका निर्णय भी मुझे ही करना था। मैंने कहा—'गुजरात क्लब के सदस्य ही इसके सच्चे अधिकारी हैं।' तब क्लब के मंत्री स्व० चिमनलाल बॅरिस्टर से मिल कर मैं ही उनसे मिलनेका वक्त ठीक कर आता था। व्यवस्था ऐसी की गई थी कि वे सब चार पांच बार गांधीजी से मिलने के लिए एकत्रित हों। जब बार बार मैं बॅरिस्टर साहब के पास समय निश्चित करने के जाने लगा तो उन्होंने कहा—'तुम्हें बार बार तकलीफ़ उठाने की जरूरत नहीं हैं; गुजरात क्लब के हॉल में जब कभी भी गांधीजी को लाना हो तब ला सकते हो, इसके लिए बारबार आने की जरूरत नहीं, शाम के वक्त कोई न कोई तो क्लब में मिल ही जाएगा।'

किंतु क्लब में जाने का गांधीजीका हेतु यह था कि वे उन लोगों को अपने जीवन और सत्याग्रह का महत्व समझाएं। धीरे धीरे ये चर्चाएं

लोगों के लिए अधिक रसप्रद होती गई; जो लोग उपेक्षापूर्वक उनकी बातें सुनते थे वे भी अंत में वादविवाद में मुख्य भाग लेने लगे। उस वक्त सरदार वल्लभभाई ताश खेलने में मशगुल रहते थे; अगर कहीं भूल से उनका ध्यान चर्चा में लग जाता तो गांधीजी टौंक कर कहते— 'अरे ताश में ध्यान रख।...' नरहरि भाई आर महादेव देसाई इसके बाद आये थे। आखिरकार सर्वानुमति से आश्रम का नाम 'सत्याग्रहाश्रम' रखा गया।

शहर की अनेक आमसभाओं और सार्वजनिक समारोहों में गांधीजी आते जाते रहते थे। क्योंकि 'लोकसेवक' को लोगों से पहिचान तो करनी ही चाहिये! उस वक्त शहर के उनके प्रायः सभी कार्यक्रम, मैं ही बनाता था। जिसमें साहित्य सभा का एक कला प्रदर्शन 'दादाभाई-जयंती' और 'गोखले जयंती' मुख्य थे, एक सभा म 'दीपे अरूणुं परभात, जय जय गरवी गुजरात' (जहाँ हमेशा सुंदर प्रभात उदित होता ह ऐसे हे गौरवमय गुजरात, तेरी जय हो) यह पंक्ति गायी गई। उस वक्त गांधीजी बोले कि–'अतिशयोक्ति करना कवियों की आदत में होता है! गुजरात में कहीं भी तो सुंदर प्रभात नहीं उगता। यहा तो रात की गहरी नींद ही छाई हुई है।'

(२) आश्रम में तरह तरह के आदमी लगातार आते रहते थे। एक दिन वहाँ एक नौसिखिए बी. ए. एल. एल. बी. गये और कहने लगे— 'साहब, मेरे लायक कोई काम हो तो बताइये?......' गांधीजी ने कहा—'आइये, ये गेहूँ चुनिये!.......' वे खुद भी उस वक्त गेहूं ही चुन रहे थे; और उन्हें पीसने के लिए ले जाने की तैयारी में थे; यह सुनकर वे बी. ए. एल एल. बी. साहब तो देखते ही रह गये! कॉलर, टाइ, पतलून पहने थे, इसलिए पहले तो सीधे से बैठना ही उनके लिए मुश्किल था; और उस मुश्किली में आध घंटा गेहूँ चुनते रहने पर भी गांधीजी ने

यह नहीं कहा कि—'अब रहने दो'...आखिरकार पसीने से लथपथ होकर वे उठे और कहने लगे —'साहब, अब मैं छुट्टी लेता हूँ!...' गांधीजीने कहा—'पधारिये!'

सांध्य-प्रार्थना में गांधीजी ने इसी बात का उल्लेख किया और कहा—'मैं उन भाई की कोई ग़लती नहा निकालता। हमारी नई शिक्षा ने सबों को अपने हाथों काम करना भुला दिया है। उन जैसे बहुत से भाई मेरे पास आते हैं। अगर आज मैं कोइ नई राजनैतिक संस्थ बनाऊँ या अखबार निकालूँ तो ऐसे लोग उसके मंत्री होने के लिए उत्सुक रहेंगे; लेकिन मैं ऐसा कुछ भी नहीं करता और मान लो अगर मैं कुछ करूँ भी तो यहां घोड़े गाड़ियों की बड़ी कतार लग जाये, सभाएँ हों, चर्चा हो, आर लोग यह मानने लग जायें कि स्वराज्य आ गया। पर मुझे इस पद्धति से काम करना नहीं सुहाता; मैं बहुत छोटा आदमी हू और देश बहुत बड़ा है। हां यदि वह, मेरा कहा माने तो मैं उसे सही मार्ग दिखाऊंगा।

(४) इसी दरमियान मैंने गांधीजी को नये जैनमंदिर, लकड़ी की कोराई का काम, हाथ के कागज के कारखाने और गलीचे के कारखाने बतलाये। उस वक्त उनके साथ मि० पोलाक भी थे। मने उन्हें एक दो ज़री की शालें भी दिखलाईं। इस बीच उन्हें अहमदाबाद की उस वक्त की गन्दी पोलें (गलियां) तो अपने आप ही दिख गईं। हृषीकेश और लक्ष्मणझूला जैसे तीर्थों में भी 'कार्युगॅटेड आयर्न शीट्स' याने सफेद लोहे की चद्दरें वहां के प्राकृतिक सौंदर्य को कैस विकृत करती हैं इसका उदाहरण देकर गांधीजी ने बताया कि आज हमारे जीवन में से कला किस तरह ग़ायब हो गई है। उन्हें सचमुच इस बात का दुःख भी हुआ था। जब उन्होंने खेतरपाल की पोल (गली) का जैनमंदिर देखा जहां जड़ित दीवारें, फूल पक्षी, और रंगबिरंगे चौक के साथ एक छः पैसे का लालटेन भी था, तो वे खीझ गये। वहाँ उन्होंने अभूतपूर्व कलामय कई गलीचे भी देखे,

जिनमें सभी काम प्राकृतिक रंगों से ही किये गये थे, तो सादा जविन गुजारते हुए भी उन्हें गलीचों को देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई और वहां की डायरी में लिखा की—" यहां के धनवान लोग, जो अपना पैसा विदेशी कला के लिए खर्च करते हैं, उनसे मेरी सिफारिश है कि एकबार इन गलीचों को खरीदें।"......उसके बाद उन्होंने सोमनाथ भूधर मिस्त्री की लकड़ी की जालियों को बड़े प्रेम से देखा, जिसमें सिद्दी शहीद का लाल दरवाज़े वाली जाली का हूबहू अनुकरण किया गया था। दूसरी ओर हिन्दू मंदिर और वस्त्रहरण का दृश्य था। मि. पोलाक ने कहा—' कलाकार ने तो इसमें मानों अपनी आत्मा ही उँड़ेल दी है।' गांधीजी ने पोलाक की बात का समथन किया और यह जानकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ कि ऐसी कलाएँ प्रोत्साहन के अभाव से मर रही हैं। उस दिन की सारा ही ' कला-यात्रा ' दुःखद था। हाथ के कागज के कारखाने के मजदूर लोग भी मानों मरने के आलस से ही जी रहे थे; उनका ज़रीकाम सिर्फ गुसांई महाराज के यहां लगता था, जिनकी उन्हें गादी तकियों के लिए ज़रूरत होती थी। दूसेर कारखानों के मजदूर भी मिलों में भरती होने लगे थे।

(५) एक दिन गांधीजी विक्टोरिया बाग के नज़दीक वाले देशी ईसाइयों के मंदिर में भी गये; वहां का तालमय संगीत सुनकर प्रार्थना के वक्त वे कहने लगे—' जब मैं उन लोगों के सुरीले संगीत के साथ अपने बिना लय के संगीत की तुलना करता हूं तो मुझे शर्म आती है। जिस तरह हमारे संगीत में से ताल चला गया उसी तरह हमारे जीवन भी बिना ताल के हो गये हैं इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।' मैंने कहा—' आप आश्रम के लिए किसी अच्छे संगीत-शास्त्री को बलाइये और इसके लिए श्री० विष्णुशास्त्री दिगम्बर को लिखिये।' गांधीजी ने कहा—' मैंने ऐसा ही किया है। आज ही दिगम्बरजी को पत्र लिखा है।' उसके परिणामस्वरूप पं. नारायण मोरेश्वर खरे आश्रम में आये, और

जब तक जीवित रहे उन्होंने संगीत और गुजरात की कैसी अनुपम सेवा की यह सब कोई जानता है।

(६) जब आश्रम को कोचरब से साबरमती ले जाने का निश्चय हुआ तब, उन्हीं दिनों, एक दिन आम सभामें से म गांधीजी क साथ सांध्यप्रार्थना क लिए लाट रहा था। उन्होंने मुझे एलिसपुलपरसे साबरमती आश्रम की जगह दूर अँगुली-निर्देश करके दिखाई; मने ठीक ठीक देखकर कहा–'यह तो दाधिचि ऋषि, के आश्रमवाली ज़गह है!' उन्होंने पूछा–'कौन से दाधिचि?' तब मैंने देवासुर संग्राम के वक्त इन्द्रको, शस्त्र बनाने के लिए अपनी हड्डियाँ देनेवाले दधीचि की कथा गांधीजीसे कही। प्रत्युत्तर में उन्होंने मुस्कराकर कहा–'ठीक है, हम भी किसी वक्त वही वेश दिखला देंगे!'

(७) गांधीजी स्व० गोखले को राजनतिक गुरु मानते थे, फिरभी भारत-सेवक-समाज म सम्मिलित नहीं हुए थे। पर गोखलेजीने इन्हें पूरे बारह महीने देश का दौरा करने की सलाह दी, और कहा कि–'पूरे बारह महीने घूम आने क बाद ही आपको सेवा का विधान बनाना चाहिये; तब तक चुप रहना चाहिये!' इस प्रतिज्ञा का गांधीजी ने अक्षरशः पालन किया। जिसदिन बारह महीने पूरे हुए उस दिन संध्याको प्रार्थना के बाद मने गांधीजी से पूछा–'कहिये साहब, अपने हिन्दुस्तान देख लिया! अब अपना अभिप्राय कहिये!' गांधीजा ने निःश्वास डालते हुए कहा–'सब ज़गह वही बात है; कोई भी देश लिए मरन को तैयार नहीं!'...मैंने कुछ चिढ़कर कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं? पंजाब तो सच्चे हृदय वालों का प्रदेश (Land of whole-hearted people) है। वहां लाला लाजपत राय हैं; दक्षिण में लोकमान्य तिलक हैं; और बंगाल में क्रांतिकारी लोग जान हथेली पर रखकर फिरते हैं! क्या ये सब लोग नाटक करते हैं?'

तब गांधीजीने गंभीरतापूर्वक उत्तर देते हुए कहा—'मैं जो कुछ बोला हूँ, बहुत सोच समझकर...मैंने कैसे महापुरुषों के विरुद्ध कहा है यह भी म जानता हूँ। किंतु मैंने जो भी कुछ कहा उसमें से एक भी शब्द वापस लेना नहीं चाहता। क्रांतिकारी कार्यकर्ता मरने के लिए तैयार है लेकिन मैं उनके कार्यक्रम से सम्मत नहीं हूं, इसलिए उनको अभी एक ओर रहने दो। लोकमान्य के प्रति मेरे हृदय में अपार भक्ति है, लेकिन जब मैं दक्षिण आफ्रिका में था, और जब उन्होंने तीन तीन दिन तक अदालत में सब शक्ति लगाकर यह साबित करने की कोशिश की कि मैं 'राजद्रोही' नहीं हूँ तब मैं कांप उठा था ! मुझे लगा कि वे ऐसा क्यों नहीं कह देते कि—' जिस तरह आज हिन्दुस्तान में शासन चल रहा है उसका तो मैं द्रोही हूं ही; उससे द्रोह न करते, तो क्या करते ? ...यह गुनाह तो मैंने किया है !...ओर इसके लिए तुम जो ज्यादा से ज्यादा सज़ा दे सकते हो वह दो, अगर मुझे छोड़ भी दोगे तो मैं यह गुनाह किये ही जाऊँगा !'...किंतु लोकमान्य ने ऐसा कुछ भी नहीं कहा !...वे 'शठं प्रति शाठ्यम्' में मानते है और मैं 'शठं प्रति सत्यम्' में मानता हूं यही हम दोनों में बड़ा मतभेद है।

(८) अभी तो साबरमती आश्रम बन ही रहा था कि मज़दूर आन्दोलन शुरू हुआ। उस वक्तकी बहुत सी खबरों, चर्चाओं आर विचार—विनिमय का म गवाह हूं। उस वक्त उन्होंने स्व० आनंदशंकर भाई को प्रमुख बनाकर, शिक्षितों को कर्मयोगी भी होना चाहिये, इस भावना को प्रवृत्त किया था। शाहपुर तरफ़ के एक स्थान पर मज़दूरों की सभाएँ होती थीं; ऐसी ही एक सभा में स्व० श्रद्धानंदजी भी आये थे, उस वक्त उन्होंने कहा कि 'मैंने जीवन में अनेक दृश्य देखे हैं पर आज जैसा दृश्य कभी नहीं देखा !'

(९) डॉ. सुमंतभाई, मुझे आरोग्य या चिकित्सा का सेवा में ही जीवन समर्पित करने को कहते थे। इसी बारे में कई बार गांधीजी भी

अनुरोध करते थे। एक दिन इसी बात के लिए वे मझे आश्रम में भी ले गये। मुझसे बिलकुल एकांत में बात करने के लिए वे मुझे एक अलग तम्बू में ले गये। मने कहा—'मैंने राजनीति और साहित्य इन दो विषयों को ही अपना बनाया है; इस विषय की शहर की सेवाओ में मेरा भी कुछ हिस्सा है; इन्हें छोड़कर अकेले आरोग्य की सेवा के लिए तो मैं अपना सब समय नहीं दे सकता!...इसे कोई ब्याहने जाये, तो मैं बाराती बन सकता हूं, दूल्हा नहीं...!' गांधीजी मेरे इस तर्क को समझ गये, और तब उन्होंने अपना आग्रह छोड़ दिया।

(१०) एक दिन किसी धनिक महाशय ने गांधीजी का पूरा एक घंटा लिया। बहुत से ज़रूरी कामवाले आदमी, बाहर इंतज़ार कर रहे थे; उनमें से मैं भी एक था, हालांकि मेरा काम उनसे भी ज़रूरी था। उन महाशय के बाहर जाते ही, म ही पहले पहल गांधीजी के कमरे में गया, और कुछ सख्त सा होकर बोला—'क्या आप उस बैल को दुह रहे थे? उसमें से कुछ दूध निकला भी?' गांधीजी ने कुछ नम्र होकर इस तरह कहा, जैसे सचमुच क्षमा मांगते हों—'भाई मैं लोभी ठहरा, जिस तरह तुम सबों की खुशामद करता हूं, वैसे ही उनकी खुशामद कर रहा था, शायद किसी दिन वे देश के लिए काम आएँ!......' यह कहकर वे हँस पड़े!

(११) सन् १९१९ में 'नवजीवन' निकल चुका था। उन्हींकी आज्ञा से मैंने अहमदाबाद की पोलों (गलियों) की गंदगी का वर्णन शुरू किया था। दूसरे भी बहुत अच्छे अच्छे लेख आने लगे थे। उस वक्त गांधीजी को भारतमाता की एक सच्ची झलक (तस्वीर) की ज़रूरत थी। उन्होंने श्री० रविशंकर रावल के द्वारा वह तस्वीर तैयार कराई। जिस वक्त श्री० रविशंकर तस्वीर लेकर गांधीजी के पास आये उस वक्त संयोग-वश मैं भी वहीं बैठा था। रविजी ने पहले वह

तस्वीर मुझे बताई फिर उसे गांधीजी के पास ले गये। उन्होंने तो उसे 'पास' भी कर दिया और 'नवजीवन' के अगले अंक में प्रकाशित करने का भी निश्चय कर लिया। यह बात मालूम होते ही मैंने गांधीजी से झगड़ना शुरू कर दिया—'आपने इस चित्र कों पसन्द कर लिया! इसका राजमुकुट कहाँ है? भले ही वह धूल में रौंद दिया गया हो,! इसके बाल भी रूखे हैं, उनमें एक पैसे का तेल भी क्यों नहीं है? कपड़े इतने गन्दे क्यों हैं? यह तो मुझे भारतमाता नहीं, कोई भिखारन मालूम होती है!... रविशंकरजी जैसे चित्रकार को क्या कहूँ, और आपको भी क्या कहूँ।...'

गांधीजी चुपचाप यह सब सुन रहे थे, रविशंकरजी भी अदालत के कठघरे में गुनहगार की तरह खड़े थे। तब गांधीजी ने दृढता से जवाब दिया—'म तो सारे हिन्दुस्तान में घमा हूँ... रविभाई ने जो चित्र बनाया है, मैंने तो उससे अच्छी भारतमाता कहीं भी न देखी!... मैंने मलिन मन से उनकी बात सुनी; सिर्फ़ आँखों से आँसू टपकना ही बाकी थे। तब रविशंकरजी ने छुटकारे की सास ली।

(१२) अहमदाबाद की गन्दी गलियों. और सारे देश की दशा एक जैसी ही देखकर, गांधीजी बहुत दिनों तक सफाइ और स्वच्छता की बातें करते रहे। एक दिन बोले—'मुझे अहमदाबाद की म्युनिसी-पाल्टी का सदस्य बनना है; इस शहर को म साफ करूँगा, दूसरे सदस्यों को उनकी ज़िम्मेदारी का होश दिलाऊंगा; इस तरह अकेले अहमदाबाद शहर की सफाई करके सारे देशकी सेवा करूंगा....' मैंने कहा—'यह तो इतना बड़ा कूड़ाकरकट है, कि अगर आप उस पर खड़े होंगे तो अन्दर ही धंस जाएंगे...वहाँ से बाहर निकलना असम्भव हो जाएगा! तब स्वराज्य का क्या होगा?' लेकिन उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। चुनाव के दिन नज़दीक आते जा रहे थे। मुझे कहा कि 'मेरे म्युनिसिपाल्टी के सदस्य होने का बन्दोबस्त

कीजिए'। मैं आधे मन से म्युनिसिपाल्टी में गया। और वहां के प्रधान श्री० रमणभाई से मिला। उनसे मालूम हुआ कि गांधीजी का नाम 'वोटरों' (मतदाताओं) की सूची में ही नहीं है। मुझे यह जानकर सचमुच खुशी हुई। मैंने प्रसन्नता को दबाकर गांधीजी से उक्त बात कही लेकिन गांधीजी सीधे से छोडने वाले नहीं थे; बोले 'मतदाताओं की सूची में मेरा नाम आना ही चाहिए!' मैंनें कहा—'आप टेक्स नहीं देते; अगर आप बॅरिस्टर हैं ऐसा कहें तो, लेकिन बॅरिस्टरी तो आपने बन्द कर दी है ...' ...तब गांधीजी ने कहा कि आपके दवाखाने पर मेरे नाम का एक पटिया लगाइये जिस पर लिखिये—'मोहनदास करमचन्द गांधी बॅरिस्टर-एट-लॉ, फिर ... मेरा 'वोट' ले आइये!'

मैं फिर श्री०रमणभाई के पास गया; उन्हें 'बॅरिस्टर' कहकर 'वोट' क अधिकार की प्रार्थना की। उन्होने बात मानकर उनका नाम मतदाताओं की सूची में लिखवा दिया। मैं रोज़ ईश्वर से यही प्रार्थना करता था कि हे भगवान, तू इन्हें म्युनिसीपाल्टी में न भेजना, नहीं तो स्वराज्य का क्या होगा?'...वे तो म्युनिसीपाल्टी में जाने की आशा करके ही बैठे थे। आखिरकार भगवान ने मेरी प्रार्थना सुनी। 'ग्राम-सत्याग्रह' प्रारंभ हुआ और उसमें गांधीजी को जिस राजनैतिक कार्य की ज़रूरत थी वह मिल गया।

(१३) उस सत्याग्रह में हम कार्यकर्ताओं को अलग अलग गांव मिले थे। हमें अपने जीवन में ग्रामीणों के प्रत्यक्ष जीवन और रहन सहन को देखने का वैसा मौका कभी न मिला था। एक दिन गांधीजी से मैंने कहा 'अनाज के निरीक्षण की तरह, ग्रामीणों के जीवन का निरीक्षण भी होना चाहिए।...' तब उन्होंने जवाब दिया कि—'ठीक है; इसीलिए तो मैं तुम सबों को यहां ले आया हूं। सत्याग्रह तो एक बहाना है। हमारे यहां की शिक्षा ने हम सबों को अपने देश में रहते हुए भी परदेसी जैसे बना दिया है। किताबों में हम अपने देश के वर्णन

बढ़ते हैं लेकिन प्रत्यक्ष और सही ज्ञान हमें इस निरीक्षण या सत्याग्रह में ही मिलता है, और यही इसके करने का कारण है और यही, यहां आकर तुम्हारा सबसे जरूरी काम है। हमारी सामाजिक दुर्दशा ही हमारी राजनैतिक गुलामी का कारण ह। जो यह कहते हैं कि 'हमारे राजनैतिक पतन ने ही सामाजिक पतन का बीज बोया है' मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूं। पहले समाज बिगड़ा है उसके बाद गुलामी आई है!'...

कुछ दिनों बाद मैंने इसी विषयपर 'समालोचक' में एक लेख लिखा, जिसमें मैंने गांधीजी की प्रवृत्तियों कि केले के पत्ते से तुलना की। जिस तरह केले के एक पत्ते में दूसरा पत्ता, और दूसरे में तीसरा पत्ता होता ह उसी तरह गांधीजी के सत्याग्रहमें भी कई बातें गर्भित होती हैं, जैसे—

ज्यों कदली के पात में, पात पात और पात।
त्यों चातुर की बात में बात बात और बात॥

(१४) खेड़ा-सत्त्याग्रह के दिनों में बातें करने का बहुत वक्त मिलता था। अभी तक गांधीजी 'महात्मा' नहीं हुए थे; इसलिए हमें कई बार उनसे बातें करने के अमूल्य अवसर मिले हैं।

कठलाल में गांधीजी स्व. मोहनलाल पंड्या के मकान में तीसरी मंज़िल पर सोने गये थे; वल्लभभाई वगेरह दूसरे लोग दूसरी मंज़िल पर ही आराम करने की तैयारी कर रहे थे; मैं किसी काम के लिए तीसरी मंज़िल पर गया। श्री. मोहनलाल की पत्नी ने अपने पति के बारे में कुछ प्रार्थना की थी जो मुझे गांधीजी से कहनी थीं। वह सब तो कुछ ही देर में कह दिया, लेकिन मुझे गांधीजी की जो फ़िलॉसफ़ी निराशामयी लगती थी उस विषय में उस वक्त बात शुरू की। उन्हीं दिनों मैंने Pleasure of life का गुजराती अनुवाद 'संसारनां सख' इस

नाम से किया था। उसमें लिखित विचारों की तुलना में मुझे उन दिनों गांधीजी का रुख़ जीवन में आशावादी नहीं लगता था। बातचीत काफ़ी देर तक चली। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनकी फ़िलासफ़ी सम्पूर्ण आशावादी है, लेकिन मैं उनकी बात नहीं मान रहा था। आखिरकार काफ़ी देर हो जाने के कारण मुझ नीचे जाना पड़ा। वल्लभभाई ने कहा- 'इतनी देर तक क्या फ़िलासफ़ी कूट रहे थे?' मैंने कुछ जवाब नहीं दिया।

(१५) खेड़ासत्त्याग्रह में मोहनलाल पंड्या को बीस दिनों की सादी कै़द की सज़ा हुई थी। उनके छूटने के एक दिन पहले डॉ. कानूगा, बच्चूभाई और मैं, रात की गाड़ी से जाकर महमदाबाद की धर्मशाला में सो गये। बाद में मालूम हुआ कि गांधीजी सुबह का गाड़ी से आ रहे हैं; हमें यह संदेश भी मिला था कि गांधीजी क साथ हम सबों को पांच माल पैदल चलकर खेड़ा जाना था। इस पूरी पैदल-यात्रा में सामयिक राजनैतिक विषय—जैसे, पहला यरोपीय महायुद्ध, आर उसमें भारत ने सेना या धन की मदद देनी चाहिए या नहीं—आदि विषयों पर बातें हुई।

(१६) अहमदाबाद म फौजों को भरती के बारे में जो सभा हुइ थी, उसमें गांधीजी सरकार को मदद करने के पक्ष में बोले थे। स्व० मगनभाई चतुरभाई, और स्व० नगीनदास संघवी वगैरह विरोध में बोले। गांधीजी ने मरा अभिमत जानना चाहा स्व० नगीनदास संघवी ने कहा था कि—'ज्यादा बच्चे होने से कोई कूड़ेमें नहीं डाल देता...' मैंने भी इसी मत का समर्थन किया। गांधीजी खुद यही चाहते थे कि अपना स्वयं का मत बिना किसी हिचकिचाहट के व्यक्त किया जाय; यद्यपि उन दिनों वे स्वयं सरकारके वफ़ादार देशभक्त थे।

(१७) सन् १९२० में गुजरात विद्यापीठ प्रारंभ हुइ; देखते ही देखते मकान और पुस्तकालय तैयार हो गया। आठ बरसों तक इसने उच्च शिक्षा भी

दी। गांधीजीने मुझे भी इसकी विधानसमिति और कार्यकारिणी सभामें रखा था, इतना ही नहीं, बल्कि ललितकला विभाग का डीन (प्रतिनिधि) भी मुझे ही बनाया। इस सिलसिले में यहां एक ही दो बातें कही जा सकेंगी। उपाधि वितरण के अवसर पर एक बार उन्होंने कहा कि—'इन प्रोफेसरों ने मुझसे गीता छीनकर, मेरे दिमाग़ मे अर्थशास्त्र (Political Economy) भर दिया है।' सन् १९३० में विद्यापीठ बंद हो रहा था। मैंने कहा—'देश के युवक अभी तक सरकार की तरफ़ देखते थे; कुछ ही दिनों से आपकी ओर भी उनकी नज़र लगी थी; अगर आप जितना स्वराज्य चर्खे में हैं उतना ही शिक्षा में भी है' इस वाक्य के नीचे लकीर खींच दें तो मैं अभी बोलना बंद करता हू।'

वे बोले—'ठीक है, में लकीर खींचता हूं, अगर सचमुच ही कहीं लकीर खिंचवाने की ज़रूरत हो तो मुझे याद दिलाते रहना; मैं ठहरा उतावला आदमी!' लेकिन उन्हें तो स्वराज्य पाने की जल्दी थी, और उसके लिए फ़ौज की भरती करनी थी। धीरे धीरे विद्यापीठ का प्रत्येक विद्यार्थी, अध्यापक गण, क्लर्क, चपरासी यहां तककि झाडूवाले भी फ़ौज में भरता हो गये। सन् १९३२ में विद्यापीठ का मकान भी सरकार ने ज़ब्त कर लिया। एक बार गांधीजी ने कहा—'अगर हमारे पास बड़े बड़े मकान आर संस्थाएँहों और हम उन्हें बचाने के लिये, राजनैतिक आन्दोलन न करें, यह बात ठीक नहीं है। उन चीज़ोंको सिद्धान्त के लिए छोड़ दें, इतना ही नहीं, पर यदि सरकार उन्हें तोप से उड़ाने को भी तैयार हो जाए तो हमें उन्हें उड़ाने देना चाहिए। संस्थाओं की स्थापना का जो उद्देश्य है, वह इस तरह ज्यादा सफल होता है।

(१८) गुजरात में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को क्यों बुलाया गया; उनके सम्मुख गुजराती संस्कृति को किस तरह प्रस्तुत किया गया; सन् १९ के काँग्रेस अधिवेशन के वक्त, जब कि राष्ट्रपति हकीम अजम अधिवेशन का पंडाल कलामय कैसे बना; उस कलामंडप

बनाने के लिए गांधीजी ने क्या क्या मदद दी; इस बारे में बहुत से लेख लिखे जा चुके हैं! सन् १९२० की साहित्य-परिषद् के वक्त गांधीजी ने कहा 'जब तक मेरे पास का नौकर भी खराब शब्द बोलता है, तब तक ये नरसिंहराम, कवि कैसे हो सकते हैं! ...

उनके इस वाक्य ने बहुत उथल पुथल मचाई! उसके बाद १२ वीं साहित्य-परिषद् के वक्त उन्हें सभापति बनाने की घटनाएँ वगैरह लिखने के लिए यहाँ बहुत जगह चाहिए!

(१९) अंत में आगे कूच हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिलाने के लिए ८० व्यक्ति पैदल यात्रा करने वाले थे। अहमदाबाद से खेड़ा की सीमा तक की जवाबदारी मुझपर थी। पहली रात को मैंने गांधीजी के जाकर कहा कि—'कल एकलाख आदमी हमारा जत्था देखने के लिए आनेवाले हैं!' उन्होंने पूछा — 'क्यों? हम लोगों के पास ऐसा देखने लायक क्या है? हमें सींग आये हैं, या पूँछ? ...'

मैंने कहा — 'यह नहीं, लेकिन जिसतरह चकलाभाई की (एक पक्षी विशेष) यह बात लोगों ने पढ़ी है। आप ८० व्यक्ति ब्रिटिश साम्राज्य को हिलाने के लिए कैसे जारहे हैं यह देखने के लिए लोग आएँगे!'

उन्होंने पूछा—'क्या तुमभी इस बात को मानते हो? मैंने कहा — 'हाँ!' वे बोले — 'तब सरकार में इतनी हलचल क्यों मच गई है?'

म इसका जवाब नहीं दे सका।

दूसरे दिन ...'वैष्णव जन तो तेने कहिए...' गाते हुए हमारी टुकड़ी रवाना हुई। धर्म (कर्तव्य) और सत्य के आधार पर राजनैतिक आन्दोलन जारी करने का इतिहास में यह पहला ही अवसर था। उसके क़दम क़दम पर देश की जागृति बढ़ती गई नवागाम तक बिदा कराकर मैं वापस लौटा।

'अमास नी रात ने स्वराज नुं वहाणुं, सपरमे दहाड़े सबरस सबरस ......' गाता हुआ मैं भी बिना कर (महसूल) का नमक बेचने के लिए, कस्तूरबा को प्रणाम करके निकला। कस्तूबाने ...'देश के लिए ...' यही कहकर आशिर्वाद दिया।

गांधीजी ने अहमदाबाद यह कहकर छोड़ा है कि —'चाहे कौवे की मौत मरूं, या कुत्ते की, लेकिन बिना स्वराज्य लिए मैं इस आश्रम में पैर नहीं रखूँगा !' उन्हें ऐसी कुमौत से न मरने देकर, स्वराज्य पाने के बाद हँसते मुँह से वापस आश्रम में ले जाने का काम मेरे और आपके हाथों में है। उन्होंने तो दधिचि ऋषि का काम कर दिखाया है। हड्डियाँ शस्त्रास्त्र बनाने के लिए देदी हैं। उन शस्त्रास्त्रों के द्वारा राक्षसी शक्ति को विजित करना अब जनता का काम है।

अमावस की अंधेरी रातमें स्वराज्य का जहाज चला जा रहा है किसी शुभदिन...

अहमदाबाद, २७-७-४६

आश्रमवास के संस्मरण—

• श्री० विठ्ठल लक्ष्मण फड़के •

(१) स्व० गोखले के अवसान की खबर पाने के बाद गांधीजी पूना आये थे; उस वक्त मैं भी वहीं था। 'भारत-सेवक-समाज' में में उनके दर्शनों के लिए गया।

वह सन् १९१६ के फरवरी महीने की एक सुबह थी। सूरज की हलकी धूप में, खुली ज़मीन पर गांधीजी, सफ़ेद काठियावाड़ी कम्बल लिपटाये बैठे थे। पहले पहल जब मैंने उनका ढंग, और कपड़ों तथा बोलने की सादग़ी देखी तब ही मैं जान गया कि यह सीधासादा पुरुष लोक-नायक के योग्य ही है। मैंने भीतर जाकर 'जय जय' की। गुजराती भाषामें में जय जय सुनकर उन्होंने मेरा नाम पूछा। गुजराती के स्थान पर मराठी नाम सुनकर उन्हें आश्चर्य से अधिक आनन्द सा लगता मालूम हुआ। सचमुच सब से ज्यादा आश्चर्य तो मुझे उस वक्त हुआ, जब उन्होंने मुझसे कहा—'मैं तुम्हें पहिचानता हूँ।' मैंने पूछा—'कैसे? हम लोग तो पहले कभी मिले भी नहीं!'...उन्होंने कहा—'हाँ, यह बात तो सच है, पर आपके मित्र मुझे मिले हैं (नाम देकर) मैंने आपकी बातें उन लोगों के मुँह सुनी है। मैंने कहा—'तब मुझे आपके साथ कुछ दिन रहना है।'

'किसलिए?'

'अगर हमारा मेल मिल जाय तो आपके साथही रहकर काम करने का विचार है।'

'लेकिन अभी तो मैं मुसाफिर हूँ, और इन दिनों म खुद जनता के पैसे से जी रहा हूँ, इसलिए तुम कुछ दिन रुको; जब मैं कुछ स्थिर बनूँ तब आना।'

'ठीक है, तो मैं इज़ाज़त लेता हूँ ।'

मुलाकात पूरी हुई, मैं तो सिर्फ दर्शन की आशासे ही गया था। मुलाक़ात के बाद मुझे लगा कि जैसे कोई महापुरुष मेरे नये मित्र बने हों; और साथ ही साथ मुझे अपने भविष्य का कार्यक्रम भी मिल ही गया। शायद 'प्रथम दर्शन में प्रेम' की बात महापुरुषों के बारे में भी सच निकलती है।

(२) मैं आश्रम में दाखिल हुआ। श्री० थंबी नायडू ने, जो गांधीजी के दक्षिण-आफ्रिका के साथी थे, अपने लड़के गांधीजी को सौंपे थे। कुछ महीनों के बाद, उनमें से एक मरणशय्या पर पड़ा था। दवाएँ करकर के घबरा गया था, और वह आया भी इसी निश्चय से था कि अगर मौत आये भी तो आश्रम में ही। बारी बारी से सभी आश्रमवासी उसकी सुश्रूषा करते थे; जिनमें से स्वयं गांधीजी भी एक थे; और जब जब लड़के उन्हें विशेष सुश्रूषा के लिए बुलाते तब भी उन्हें ही हाज़िर होना पड़ता था। एक रात को बारह बजे वे अपनी 'ड्यूटी' बजाकर मुझे सौंप गये, और कह गये, मैं एक घंटे बाद उन्हें जगा दूँ। बीमार के पास बैठने से तो नींद आने का डर था, इसलिए म इधर उधर पैर चलाने लगा। पंद्रह मिनट बाद गांधीजी के बिस्तर के पास जाकर देखा तो वे गहरी नींद में थे। बीमार की इतनी अधिक चिंता होते हुए भी उन्हें इतनी गहरी नींद कैसे आइ यह देख मुझे आश्चर्य हुआ।

घंटेभर बाद, मेरी 'बारी' समाप्त होनेपर जब मैं उन्हें उठाने के लिए जाने लगा तो, एक मिनट पहले ही उन्होंने पूछा—'क्यों वक्त पूरा हुआ न?' एकाएक यह प्रश्न सुनकर मुझे और भी अधिक आश्चर्य हुआ। वे बोले—'एक घंटे अच्छी नींद आई!'

वे बीमार के पास जा बैठे। आध घंटे के बाद बीमार ने उन्हीं की

गोद में सिर रखकर प्राण छोड़े। उस वक्त उन्होंने किसी को भी नहीं जगाया। सबेरे प्रार्थना के वक्त ही सब लोगों को खबर मिली।

शुरूआत के उन दिनों में, अर्थात् सन् १९१५-१६-१७ के दरमियान मुझे मुसाफ़िरी करने का काफ़ी मौका मिला था। उसी वक्त मुझे उनके, नींद पर के असाधारण अधिकार का ज्ञान हुआ। रेलवे की असाधारण भीड़ में, शरीर संकुचित करके, हाथपाँव दबा कर, जब वे आँखें मूंदते तो उनके पास वाले को भी मालूम नही होता कि वे गहरी नींद में सो रहे हैं; क्योंकि जोर जोर से हिलती रहने पर भी उनकी गर्दन में धक्का नहीं लगता। अगर कोई यह समझकर, कुछ पूछे कि वे जागते हुए भी आँखें बूंद कर बैठे हैं, तो भी उसे जवाब मिल जाता है, क्योंकि किसी के जरा भी आवाज़ निकालने पर गहरी नींद से जाग जाना उनकी आदत में है; और फिर जवाब देने के बाद पुनः सोते भी उन्हें देर नहीं लगती।

बातें करते हुए, या कुछ लिखते हुए, वे बैठे ही बैठे, या बिस्तर पर सो जाते हैं, और जब जागते हैं तो उसी तरह अधूरा वाक्य पूरा करते हैं, जैसे वे लगातार बहुत देर से बोलते रहे हों।

(३) आश्रम के प्रारंभिक दिनों में, गांधीजी प्राय रोज़ ही थोरो की Life without principle रामदास स्वामी का 'मनाचे श्लोक' और बनियन के 'Pilgrim's progress' आदि पढ़कर उस विषय में चर्चा करते थे। वहां हर वक्त हाज़िर रहने वालों में डॉ. हरप्रसाद देसाई ही थे। एक दिन प्रार्थना के अन्त में गांधीजी के हाथ के अंगूठे पर एक मधुमक्खी बैठी। गांधीजी ने उसे उड़ाया नहीं बल्कि उसे वहीं बैठी रहने देकर ध्यान पूर्वक उसकी ओर देखते रहे, ठीक उसी तरह जैसे कोई वैज्ञानिक (Scientist) किसी पदार्थ के गुण दोषों का आविष्कार कर रहा हो। डॉ. हरप्रसाद को यह बात कुछ विचित्र सी लगी; कुछ देर ठहर कर वे बोले—'उड़ा दीजिए उसे, बेकार कहीं डंक न मार दे!'

गांधीजी हँसकर बोले—'आप भूलते हैं, अभी अगर मैं इसे उड़ाने की कोशिश करूँ तब ही यह डंक मारेगी, अगर मैं इसी तरह चुपचाप बैठा रहूँगा तो यह अपने आप उड़ जायगी!' गांधीजी को कहने को दो चार क्षण भी न हुए होंगे कि वह मधुमक्खी उड़ गई। गांधीजी फिर खिलखिला कर हँस पड़े।

(४) सन् १९२१ की घटना इससे भी गंभीर और भीषण थी। गर्मी के दिन थे। सांध्यप्रार्थना के बाद गांधीजी विश्रान्ति के रूप में बैठे इधर उधर की बातें कर रहे थे। रात कितनी बीत गई इसका किसी को भी ख़याल न रहा। आख़िरकार बहुत देर हो जाने के कारण गांधीजी उठने लगे; वे लेटे हुए सोने की स्थिति में ही थे कि उन्होंने उठते उठते अपनी चादर पर, छाती के ऊपर एक साँप पड़ा हुआ देखा। आधे मिनट चुपचाप रहने के बाद वे बोले—'दो आदमी यहाँ आओ, और धीरेसे इस चादर को उठाकर उस कुटी के पीछे रखकर लौट आओ। वहाँ वालों से बहुतों को तो यह मालूम ही न हुआ कि आख़िर वह है क्या? वे दो आदमी कौन थे यह भी इस वक्त मुझे याद नहीं है। चादर रख देने के बाद सबों को मालूम हुआ कि वह साँप था, और वह साँप भी कुछ क्षण तक पड़ा रहकर धीरे धीरे ऐसा चला गया जैसे कुछ हुआ ही न हो!

(५) स्व. राजचन्द्रजी की जयंति सन् १९१६ में अहमदाबाद के प्रेमाभाई हॉल में मनाई गई थी; उस वक्त वह हॉल बहुत छोटा था इसलिए दर्शकों की भीड़ काफ़ी थी।

सभा का काम तो शुरु हुआ लेकिन एक तो जितने श्रोता खड़े थे उनके लिये ही जगह की कमी थी दूसरे नये आने वालों के कारण धक्कामुक्की होने लगी फिर उसमें किसी को भी सुनाई कैसे दे सकता था। नेतागण मंच पर से प्रार्थना करकर के थक गये कि लोग शांत रहें। जब इस प्रार्थना का कुछ भी असर मालूम नहीं हुआ तब स्वयं

गांधीजी खड़े हुए और क्षणभर में जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए सभापति की मेज़ पर चढ़ गये। उस वक्त लोगों का ध्यान गांधीजी की ओर गया ही नहीं बल्कि वे काँप उठे, और उन्हें हो हल्ला करने का भी सुध न रही, सिर्फ लोगों मुँह से घबराहट के कारण 'ओ' 'ओ' निकल पड़ा; सभी क्षणभर में स्तब्ध रह गये! गांधीजी के सिर से आधे इंच की दूरी पर बिजली का पंखा ज़ोरों से घूम रहा था। गांधीजी को यह बात मालूम होने पर वे बोले—'सभा का काम ज़ारी रहना ही चाहिये अगर आप लोग इसी तरह से आवाज़ करते रहे तो मैं सुबह तक ऐसा ही खड़ा रहूंगा, फिर चाहे जो हो जाय!' एकाएक लोग इतने चुप हो गये कि सुई गिरने की भी आवाज़ सुनाई दे सकती थी। उसी वक्त गांधीजी सभापति की ओर मुख़ातिब हुए और व्यवस्थापकों से इतनी बड़ी सभा के लिए इतनी छोटी जगह पसन्द करने के बाबद उलाहना दिया। उसके बाद सभा निर्विघ्न रूपसे विसर्जित हुई। मुझे जहाँ तक याद है, दूसरे दिन कोचरब के सत्याग्रहाश्रम में फिर सभा हुई आर इसी तरह श्रीमद्राजचन्द्र की जयंति की पूर्णाहुति हुई।

(६) गांधीजी के संसर्ग में आनेवाले व्यक्ति जानते हैं कि वे अपनी तरह के एक अनोखे डॉक्टर भी हैं। मैंने विशेषकर टाइफ़ाइड और न्यूमोनिया के बीमार उनके उपचार से स्वस्थ होते देखे हैं; फिर भी उनके डॉक्टरपन के तरीक़े की उत्तमता में मतभेद हो सकता है। लेकिन बीमार की यथानियम सेवा और उपचार ये दोनों उनके अत्यन्त प्रिय कार्य हैं इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। बीमार की सेवा को वे प्रभुका काम समझते हैं और इसी लिए जब किसी बीमार को सेवाकी ज़रूरत होती है तो वे अपना महत्त्वपूर्ण काम स्वयं छोड़कर और दूसरे से कहकर बीमार की सेवा में लग जाते हैं। सत्याग्रहाश्रम के प्रारंभ में मेरी तबियत ठीक नहीं रहती थी, इसलिए उन्होंने मुझे शारीरिक श्रम करना मना किया था और सुबह-शाम घूम आने की

सलाह दी थी। मुझे क्या खाना चाहिए था और क्या नहीं, यह भी उन्हें ही निश्चित करना होता था। रोज़ सुबह और शाम को नहाधोकर मैं घूमने जाने लगा। जब घूम कर आता गांधीजी मेरे इंतिज़ार में होते; और अपने हाथ का बनाया हुआ गेहूं का दलिया मुझे खिलाते; जब मैं वह पीता तो बारीकी से मेरी तबियत की सूक्ष्म बातों को जानते रहते, और उसके साथ ही दोपहर या साझके भोजन क लिए उसी वक्त निश्चय कर लेते, और तब ही मुझे किसी दूसरे काम में हाथ लगाने देते थे। अगर घूमकर आने में मुझे कुछ देर हो जाती तो दूसरों से मेरी खबर पूछते और जब मैं आता तब उत्सुकतापूर्वक मेरी देरी का कारण पूछते थे। मेरे अपने अनुभव में आई हुई इस घटनासे बीमार क प्रति उनकी सतर्कता का पता लग जाता है।

(७) बीमार की ऐसी सेवा और सम्हाल, सच्ची सहानुभूति के बिना नहीं हो सकती। 'सहानुभूति' शब्दका अर्थ गांधीजी जो समझते हैं उसे जानने का सौभाग्य मुझे अभी एक वष पहले ही मिला था। उस घटना का वर्णन यहां किये बगर मैं नहीं रह सकता। मइ १९४४ में जब गांधीजी छूटे ही छूटे थे तब मेरी एक आँख में बहुत तकलीफ़ थी। बम्बई के एक अस्पताल में मुझे ऑपरेशन के लिए जाना पड़ा। गांधीजी भी उस वक्त बहुत ही कमज़ोर थे, फिर भी उनकी तरफ़ से डॉ० सुशीला नायर, प्यारेलालजी, मणिलाल, वगैरह कोई न कोई मुझसे मिलने अस्पताल में रोज़ आ ही जाते थे, और साथ में फल, दूध वगैरह कुछ न कुछ ले ही आते थे, और मुझसे या डॉक्टरों से मेरी ताबियत के हाल रोज पूछे बिना उनसे रहा भी नहीं जाता था।

जिस दिन ऑपरेशन हुआ उस रोज़ उनकी ओर से डॉ. सुशीला हाज़िर थीं; जब ऑपरेशन टेबल से मुझे अपनी चारपाइ पर पहुँचाया गया तो वहां भी उनकी तरफ़ से एक डॉक्टर उपस्थित थे।

उसके बाद मैं तो अस्पताल में ही कैद रहा और गांधीजी पंचगनी

गये; उस वक्त भी मुझे यही अनुभव होता रहता था जैसे गांधीजी का मन मेरे पास ही है। हमेशा वे मुझसे या मित्रों के द्वारा मेरी तबियत के समाचार मँगाते रहते थे, सूचनाएँ देते और धीरज बँधाते रहते थे। यदि किसी विशेष कारण से प्यारेलालजी बंबई एक दिन के लिए भी आते तो मुझसे मिले बगैर नहीं लौटते थे। मुझे बहुत दिनों तक अस्पताल में रहना पड़ा, इससे मुझे लगता है कि जितनी घबराहट मुझे हुई उससे कहीं ज्यादा घबराहट गांधीजी को हुई होगी फिर भी वे मुझे लिखते रहते थे कि—'मुझे कल्पना में भी नहीं आ सकता कि तुम निराश होगे, क्योंकि मैं कई वर्षों से तुम्हें जानता हूँ। जब तक डॉक्टर इज़ाज़त न दे तुम वहीं रहना आर उनकी रायके मुताबिक इलाज़ जारी रखना। आखिरकार जो ईश्वर ने चाहा है वह तो होगा ही लेकिन हमें डॉक्टरों को यह कहने का मौका नहीं देना चाहिए कि–' हमारा कहा नहीं माना, इसलिए आँखें अच्छी नहीं हुई।'

मैं भी अस्पताल में मन को इसी तरह समझा कर टिका था, कि अगर मेरी आँखें अच्छी न भी हुईं, तो डॉक्टरों के अपने अन्वेषणों में मदद मिलेगी और मेरे बाद आने वाले रोगियों को उससे फायदा होगा, यों कहें कि मैंने अस्पताल को घरही समझ लिया था। मेरा यह संकल्प गांधीजी के सन्देश आने पर और दृढ़ हो गया।

अंत में स्वयं गांधीजी जिन्ना साहब से मिलने के लिए बम्बई आये। उनके बंबईनिवास के दरमियान ता. १४ सेप्टेम्बरके दिन चर्खा–दिवस होने के कारण बिडलाहाऊस पर उनके मित्रों और प्रशंसका का एक छोटासा जलसा था। उन्होंने डॉ. सुशीला को अस्पताल भेजकर डॉक्टरों को कहलाया कि अगर संभव हो तो मुझे भी कुछ घटों के लिए बिड़ला हाउस जानेकी इजाज़त मिल जाये। गांधीजी ने डॉ. सुशाला को मुझे बुला लाने के ही लिए भेजा था। डॉक्टर ने मुझे इज़ाज़त देने में असमर्थता प्रकट की, इसलिए मैं जलसे में हाजिर नहीं हो सका, लेकिन मेरे

बदले, मेरी देखभाल के लिए आये हुए हरिजन-युवक को भेजा। जब वह दो-तीन घंटे में वापस लौटा तब ठक्कर बापा (अमृतलाल ठक्कर) की एक चिठ्ठी भी लाया। उसमें लिखा था कि 'बापू किसी डॉक्टर से तुम्हारी आँखों के बारे में बातें कर रहे थे, तब बोले कि, अगर उनकी आँख चली जाएगी तो मेरी भी गई समझो!' चिठा पढ़ते ही आँखों से आँसू की धारा बह चली। महीनों तक अस्पताल में पड़ा रहनेके बाद भी जिसकी आँखें गीली न हुई, उसे रोता देखकर किसी को ग़लतफ़हमी न हो इसलिए मुझे खुलासा करना पड़ा कि—'उनकी आँख चली जाय, तो मेरी भी गई समझो, यह समझनें वाले महात्मा के उत्कट प्रेम के योग्य मैं हूँ या नहीं, यह सवाल जब मैं अपने मन से करता हूँ तब मुझे इसका उत्तर 'नहीं' में मिलता है; उसी बात के ये आँसू हैं।'

(८) सन् १९१७ में जब सत्याग्रहाश्रम कोचरब से हटकर वाड़ेज के पास आया तब कुछ दिनों के बाद चार पाँच युवक गांधीजी से मिलने आये। गांधीजी ने उन लोगों के नामधाम पछे। जवाब सुनने के बाद कुछ देर सोचकर उन्होंने एक युवक से पूछा—'तुम पहले कभी मुझसे मिले हो?' युवक ने 'हाँ' कहा। गांधीजी ने फिर कहा—'लेकिन उस वक्त तुम्हारा नाम दूसरा (याद रहनेवाला नाम बोलकर) था न?' उसने जवाब दिया' हाँ, मैं दोनों नामों से पहचाना जाता हूँ, उस वक्त जो लोग मेरे साथ थे वे उसी नाम से विशेष परिचित थे, इसलिए मैंने आपको वही नाम बताया था। इस नाम से भी लोग मुझे पहचानते हैं।'

दो बरस पहले साधारण तौर पर मिलने आने वाले, हजारों में से एक युवक का नाम बिलकुल ताज़ी बात की तरह याद रखना गांधीजी की स्मरणशक्ति का एक मामूली नमूना है।

बम्बई १०–८–१९४५

निरक्षर बहिनें और बापूजी

● गंगाबहन वैद्य ●

अगर म गांधीजी के संपर्क में न आई होती तो ? जब इस प्रश्न का विचार करती हूं तब मुझे पच्चीस वर्ष पहले का अपना पूर्वजीवन याद आ जाता है। तब मुझे लगता है कि यद्यपि गांधीजीने हरिजनों की, गायों की और गरीबों की सेवा की है उसी तरह सभी वर्गों की सेवा की है लेकिन उन्होंने जिस तरह हमारे देश की बहिनों की सेवा की है, वही मुझे सबसे महत्त्वपूर्ण लगती हैं। पच्चीस वर्ष पहले मुझे जरा भी ज्ञान या अभ्यास न था। उस वक्त सेवा की भावना भी व्यापक नहीं हुई थी। हाँ, सेवा की थोड़ी थोड़ी भावना पुरुषों में अवश्य जाग्रत हुई थी लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियाँ भी सेवा कर सकती हैं, यह तो किसी ने सोचा भी नहीं था। इसी बीच गांधीजी के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। उसके बाद में उनकी सेवा-प्रणाली की ओर लोहचुंबक की तरह खिंची और बम्बई छोड़कर साबरमती आश्रम में जाने के लिए प्रेरित हुई; इस तरह शहर छोड़कर ग्रामजीवन के अनुभव का मौका मिला।

मेरे आश्रम में दाखिल होने के बाद, गांधीजी अपने क्षेत्रसंन्यास के वर्ष में (सन् १९२६) भाइयों और बहिनों का एक सम्मिलित वर्ग लेते थे। क़रीब छः महिने बीत जाने बाद गांधीजी ने महसूस किया कि उन्हें बहिनोंके जितने निकट सम्पर्क में आना चाहिए उतने वे नहीं आ सके; बहिनों का सम्पर्क अधिक समीप बनानेके लिए उनके लिए एक अलग वर्ग की स्थापना होनी चाहिए; लेकिन इसके लिए बहिनों का मत या अभिप्राय जानना आवश्यक था; वह कैसे जाना जाता ? गांधीजी ने मुझसे कहा—'गंगा बहन, मैं तुम बहनों को अलग समय

नहीं दे सकता इसका मुझे बहुत दुःख है; मैं महसूस करता हूँ कि यहाँ इतनी बहिनों होते हुए भी, मैं उनसे न मिल सकूं यह ठीक नहीं है; अगर एक अलग वर्ग की स्थापना तुम लोगों के लिए की जाय तो तुम्हें ठीक लगेगा ? आज से तुमही बहनों की प्रतिनिधि हो, उसका अभिप्राय जानकर फिर मुझे बताना ।

जीवन में पहली बार मैंने 'प्रतिनिधि' शब्द अपने लिए सुना था; मैं इस शब्द का मतलब भी नहीं समझती थी। मुझसे न रहा गया मैंने पूछा—'बापू, प्रतिनिधि का क्या अर्थ होता है ? मुझे क्या करना होगा ? उन्होंने जवाब दिया—'तुम सब बहनों की प्रमुख (मुखिया) हो, ऐसा मैं मानता हूँ तुम सब बहनों से पूछकर फिर मझसे कहना ।'

मैंने कहा—'मैं तों गँवार हूँ, आप मुझे प्रमुख बनाते हैं पर मुझे यह सब समझ में कैसे आयेगा ?

उन्होंने कहा—'गंगा बहन, साक्षरता–अक्षरज्ञान–तो सोनेके ऊपर के पानी (चमक) जैसा है; अगर भीतर सोना हो तो मुझे चमक की पर्वाह नहीं।'

कुछ दिनों बाद बहनों ने इच्छा प्रकट की कि उनका अलग वर्ग स्थापित किया जा सकता है। जब गांधीजी ने बहनों का उत्साह देखा तो अलग वर्ग की स्थापना हुई। उस वर्ग मे बहुत सी प्रौढ़ निरक्षर बहनें भी थी। वर्ग की शुरूआत 'रामनाम' से हुई। 'रामनाम' की धुन काशीबहनने गाई और 'गोविन्द द्वारिका वासिन्...' (आश्रम भजनावली में स्त्रियोंकी प्रार्थना का पहला श्लोक) बहनों को सिखाना शुरू किया श्री० शिवाभाइ की पत्नी हीराबहन बिल्कुल ही निरक्षर थीं; इसलिए गांधीजी उन्हें सबसे आगे बैठाते थे, और पढ़ाने में भी उनकी विशेष चिन्ता करते थे। इस तरह गांधीजी ने हम अशिक्षित बहनों को सुशिक्षित बनाया। आश्रम के छोटे बच्चों के सिखानेका काम हमारे ही जिम्मे था, और भोजनालय का इंतज़ाम भी। वे स्वयं वक्तपर वहां

हाज़िर रह कर हमें व्यवस्था और नियम बताते रहते थे। उस वक्त छोटे बच्चों सहित लगभग २०० भाइ बहिन वहाँ भोजन करते थे, कोई रसोइया वहा नौकर न था। सबके लिए अपना अलग अलग काम था ही, इसके सिवा भोजनालय में भी नियमित रूपसे कोई न काम करना होता था। इतना अधिक काम होते हुए भी कभी भी भोजनकी घंटी बजने म देरी न हुई। यह सब व्यवस्था गांधीजीने ही हमें सिखाई थी इस वर्ग में शिक्षण प्राप्त करने के बाद छोटी बड़ी बहनों के जीवन में उत्साह की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई। सन् १९३० के सत्याग्रह में ये ही बहनें स्वेच्छा से सम्मिलित हुई थीं, और उन्हें जेलयातना और लाठी की चोट में एक गौरवमय आनन्द का अनुभव हुआ था। मुझ जैसी बहनों को यहा ग्रामों में सेवा करने की प्रेरणा गांधीजी ने ही दी है; उन्हीं ने हमें स्वतन्त्र रूप से काम करने की सामर्थ्य दी। जहाँ तक मेरा अनुभव और अभिप्राय है, मैं कह सकती हूँ कि आज यहाँ गाँव में रहकर यथाशक्ति जो भी कुछ सेवाकार्य कर पाती हूँ, वह सब गांधीजी की उत्कट प्रेरणा ही का परिणाम है!

बोचासण, २५-७-४५



ताकत कितनी चाहिए ?

• रविशंकर शिवराम व्यास •

सन् १९२९ में जब गांधीजी कच्चे अनाज का प्रयोग कर बढ़े थे, उस वक्त उस प्रयोग में मैंने भी हिस्सा लिया था। गांधीजी के थोड़े दिन तक कच्चा अनाज खाने का कारण पेट (पकाशय) में दर्द होने से शरीर बिलकुल दुबला हो गया था। मुझे कोइ खास तकलीफ़ न हुई थी। मुझे कच्चे अनाज का प्रयोग करते हुए एक महीना बीत चुका था इसी अर्से में, एक दिन किसी खास काम से उनके पास गया। उस वक्त उनमें बोलने की शक्ति न थी, इसलिए उन्होंने किसी से भी बात करनेके लिए मना कर दिया था। उस वक्त उन्होंने अपनी आज्ञा अपने आप तोड़कर मुझसे पूछा—'तुम्हारा शरीर कैसा है ?' मैंने कहा 'बापूजी, ठीक है। [हालांकि बात करना उनके लिए हानिप्रद था फिर भी उत्तर देना ज़रूरी था] फिर उन्होंने पूछा—'वजन कितना कम हुआ ?' मैंने जवाब दिया—'ज्यादा नहीं तीन पाव ही कम हुआ है पर कमज़ोरी बहुत मालूम होती है !' उन्होंने पूछा—'काम क्या करते हो ?' मैंने कहा—'सारे दिन सूत कातता रहता हूँ, किसी दिन सफ़ाई वगैरह का काम होता है तो वह भी कर लिया करता हूँ, उन्होंने फिर पूछा—'इतना काम होता तो है न ?' मैंने हाँ कहा। तब वे बोले—'तब और ज्यादा ताकत की इच्छा क्यों करते हो ? तुम यह तो जानते ही हो कि ज़रूरत से ज्यादा ताकत इकठ्ठी होने पर शरीर में विकार उत्पन्न करती है, और आत्मशक्ति का ह्रास करती है! मैं जब आफ्रिका में रहता था तो २१ माइल पैदल चल कर वकालत करने जाता था और शनिवार को तो ४२ माइल पैदल सफर करता था। बड़े सबेरे उठकर, रात को बनाई हुई रोटियाँ और निंबू का अचार साथ में बाँध लेता था; रास्ते के झरने में स्नान करके ऑफिस

पहुँचता और साथ की रोटिया खा कर काम में लग जाता था। शनिवार को छोड़कर रोज़ शाम के वक्त गाड़ी में लौटता था। शनिवार को जाना और आना मिलकर ४२ माइल होते थे। इसलिए शरीर से जितने काम की ज़रूरत होती है उतनी ही ताकत की इच्छा होनी चाहिए, जरूरत के बगैर नहीं!

बोचासण, १३-७-४५



विविध घटनाएँ

• पंडित सुखलालजी •

जब मैं, प्राचीन भारतीयता की एकमात्र अवशेष काशी में विद्याभ्यास करता था, तब ही दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के उद्धारक गांधीजी को 'कर्मवीर गांधीजी' के रूप में अखबारों में पढ़ा और तब से ही उन्हें कुछ कुछ जानने लगा और मेरे मन में, उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत हुई थी। आफ्रिका से जब वे हिन्दुस्तान आये तब अहमदाबाद में उनके स्वागत-समारम्भ के वक्त अकस्मात मैं भी वहाँ पहुँच गया। सत्कार के बाद उन्होंने जवाब के रूप में जो छोटा सा भाषण दिया था उसे सुनकर मेरे मन की श्रद्धा और विकसित हुई, इसलिए मैं उनके सम्पर्क में आने का अवसर ढूँढने लगा।

म उनसे मिलने की आकांक्षा में कोंचरब के पास वाले बंगले में, अक्सर दोपहर को उस वक्त जाया करता था जब वे अन्य आश्रम वासियों के साथ गेहूँ वगैरह बिनते होते थे। मेरे साथ ही कई कौतुहल-प्रेमी महाशय उस वक्त गांधीजी के दर्शनों और विशेषकर उनका गेहूँ चुनना देखने के लिए आया करते थे। गांधीजी से मेरी प्रारम्भिक पहचान का प्रारंभ इसी तरह हुआ; उनसे विशेष परिचय किसी दूसरे ही ढंग से हुआ।

उस वक्त मैं पाटण (गुजरात का एक शहर) से अहमदाबाद आया हुआ था। एक दिन मैं स्व० पूंजाभाई हीराचन्द तथा अन्य मित्रों के साथ गांधीजी के कोचरब वाले आश्रम में जा पहुँचा। गर्मी के दिन और दोपहर का वक्त। उन दिनों दीनबन्धु एण्ड्रूज़ भी वहाँ पधारे थे। आश्रम के मेहमानों में एक स्व० मणिलाल बकोरभाई व्यास भी थे जिनसे मेरी पहले की पहिचान थी। गांधीजी ने तब आश्रम के

विद्यार्थियों को क्रमशः दीनबन्धु एण्डूज़ से परिचित कराया । मैं भी सुन रहा था । दीनबंधु के चले जाने के बाद गांधीजी ने मझसे पूछा— 'कहाँ से आ रहे हो ? । मैंने जवाब दिया 'पाटण से ।' तब उन्होंने पूछा—'पाटण तो सिद्धपुरके पहले आता है न ? मैंने कहा— 'नहीं, पाटण मुख्य लाइन पर नहीं है, मेलानासे जानेवाली ब्रांच लाइन पर है ।' गांधीजी ने जैसे गहरे अचरज से कहा 'ऐसा'; कुछ देर ठहरकर उन्होंने फिर कहा—'ओह मेरे अज्ञान का भी कुछ पार है ?' तक उन्होंने वहाँ का नकशा निकाला और सब रेलवे लाइनें देख डालीं । देखेन के बाद कुछ देर ठहर कर बोले—'तुम यहाँ भोजन कर सकते हो !'

उसी दिन वे स्व० जटाशंकर लीलाधर वैद्य और दीनबन्धुके साथ बावला जानेवाले थे; मेरा मन यह मौका छोड देने को नहीं करता था। तीन अन्य मित्रों के साथ में 'बावला' पहुँचा, जहाँ शाम को गांधीजी का भाषण सुना । यहीं से उनके साथ मेरा विशेष परिचय प्रारंभ हुआ ।

(२) दूसरे किसी दिन मैं गांधीजी से मिलने आश्रम की ओर जा रहा था; शहर में ही, एलिसब्रिज के पास वे उधर से आते हुए मिले । नमस्कार के जवाब में उन्होंने पूछा—'मैं इस वक्त गोखलेजी की शोक-सभा में जा रहा हूँ, तुम आओगे ?' हम उनके साथ हो लिए । दूसरे कई विद्वानों के भाषण हो जाने के बाद गांधीजी ने अपने छोटे से भाषण में कहा—'इतनी छोटी उम्र में गोखलेजी का अवसान, देश की एक अमूल्य निधि का नष्ट होना है । देशसेवकों और नेताओं को सेवाके साथ साथ जीना कैसे चाहिए, यह भी उन्हें सीखना चाहिए'...इत्यादि ।

(३) उन दिनों वहां (विशेषकर अहमदाबादमें) आश्रम के सादे भोजन और रहनसहन के विषय में कौतुहल-पूर्ण चर्चाएँ होती रहती थीं । एक बार मुझे भोजन के लिए निमंत्रित किया, और उसका लाभ लेकर मैं आश्रम में भोजन के लिए गया भी । प्रार्थना करने के बाद खुद

बापूजी ही भोजन परोसने लगे। गेहूँ की रोटियाँ और साग परोसने के बाद वे बोले ...' मीठा कुछभी नहीं है, क्या यह सब भाएगा ? यहां तो सदाही फीकापन रहता है; आपने कभी फीका खाना खाया है ? मैंने कहा—' जी, जैनों का आर्यांबार भोजन फीका ही होता है !' तब उन्होंने, हँसकर कहा—'तब तो तुम्हें यह आश्रम सुहा जायगा !' जवाब में मैं सिर्फ मुस्करा दिया।

सबों ने भोजन कर लिया। उस दिन एकादशीथी इसलिए गांधीजी नारियल का दूध और खजूर वगैह लेने के लिए बैठे थे। इसी बीच एक अहमदाबादी सज्जन उनसे मिलने आये। गांधीजीने उन्हें बैठने को कहा भर था, लेकिन वे सज्जन तो बहुत बैठे ! गांधीजी का भोजन पाँच-दस मिनट में समाप्त होनेवाला न था ! वे सज्जन प्रतीक्षा में बैठे बैठे ऊबकर भी बहुत नम्रता से बोले—' आपको तो बहुत वक्त लग गया !' गांधीजी हंसकर बोले —' अभी एक घंटा कहाँ हुआ है ?' वे सज्जन बोले—' ऐसे फलाहार और खजूर भर खाने में एक घंटा लगाना तो आश्चर्य की बात है !' तब गांधीजीने जवाब दिया—' इसमें आश्चर्य कैसा ? मुझे कुछ तुम जैसा अल्पजीवी थोड़े ही बनना है !' वे सज्जन बोले—' तो क्या आप इतने धीरे खाने से दीर्घजीवी बन जाएँगे ? बापूजी बोले—' जरूर, मुझे तो पूरे सौ वर्ष जीना है। और उसका उपाय यही है !'

मैं यह बातचीत बहुत ध्यानपूर्वक सुन रहा था, बातचीत के बाद मैंने इस विषय में बहुत विचार भी किया। मुझे ठीक ठीक याद है कि यह बातचीत सुनते वक्त मैं अपनी भोजन वाली थाली माँज रहा था जो भी मित्रोंने मुझे वैसा करने से मना किया था।

(४) जैसे जैसे परिचय बढ़ता गया वैसे वैसे गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने की कामना तीव्रतर होती गई थी। परिणाम-स्वरूप मैंने और श्री ० रमणीकलाल मोदीने साथ ही साथ गांधीजी के पास जाने का निर्णय किया। गांधीजी की स्वीकृति आ जाने के बात हम दोनों ही

कोचरब आश्रम के लिए रवाना हुए। जब अहमदाबाद स्टेशन पर उतरे तो वहीं श्री० पूंजाभाई ने हमें देखकर कहा—'बापूजी इसी गाड़ी में बंबई जा रहे हैं!' जब हम दोनों उनसे मिले तो, वे बोले—'मैं एक जरूरी काम से, बम्बई जा रहा हूँ, पर तुम लोग खुशी से आश्रम में जाओ, मैं तो कल वापिस लौट रहा हूँ!'

हम दोनों नियमानुसार थाली, कटोरी और बिस्तर लेकर पैदल ही आश्रम में पहुँचे और नियमपूर्वक रहे भी। आश्रम की प्रवृत्ति का साधारण अवलोकन कर लेने के बाद हमने आश्रमवासियोंसे कुछ कुछ पहिचान भी की। एक ही दिन बाद गांधीजी लौट आये। मैं और रमणीकलाल, कर्मविषयक एक प्राचीन जैन ग्रंथ 'कर्मप्रकृतिशास्त्र', पढ़ रहे थे; हम जिस जगह पढ़ रहे थे, वह आश्रम का एक कोना था; अचानक गांधीजी भी उस दिन वहाँ टहलते टहलते आ निकले और पूछा—'क्या पढ़ रहे हो?'...हम पहले तो कुछ संकुचित हुए फिर जवाब दिया—'यह तो एक जैन ग्रन्थ है।' 'विषय क्या है?' उन्होंने पूछा। 'इसमें कर्मसिद्धान्त की बहुत बारीकी से चर्चा की गई है!' हमने उत्साह पूर्वक जवाब दिया। तब वे अपनी स्वाभाविक व्यंग-मयी उक्ति में बोले—'ऐसा! तब तुम लोग कर्म के अभ्यासी हो!'...

तब हम दोनों ने निश्चय किया कि यहाँ कर्मयोग के आश्रम में सिर्फ पढ़ने में समय बिताना ठीक नहीं है। इसलिए हम दोनों ने कुछ काम करने की इच्छा व्यक्त की। रमणीकलाल तो चाहे जो काम कर सकते थे, लेकिन मुझे क्या करना चाहिए? इसलिए मैंने आखिरकार कहा दिया—'मैं चक्की पीसने में हाथ बंटाऊंगा!'

नियमानुसार जब सवेरे चार बजे उठे तो गांधीजी ने मुझसे कहा—'सुखलाल, मेरे साथ चक्की पर चलो!' मैं उनके साथ ही पीसने बैठा। एक घंटे में पाँच सेर गेहूं पीसने थे; मैं और वे दोनों पीस रहे थे; वे मेरे हाथ की क्षमता को कुछ ही देर में पहचान गये, बोले—'पहले कभी

पीसा है ?' मैंने कहा—'जी नहीं, यह पहला ही मौका है !' वे बोले—'तब तो हाथ दुखेंगे और जलेंगे, तुम अब उठ जाओ !' मैंने कहा—'नहीं, ऐसा करने तो अभ्यास ही बढ़ेगा !' पूरे एक घंटे तक पिसाई जारी रखी। हाथों में छाले पड़ गये थे फिर भी तकलीफ़ ने दृढ़ता ही दिलाई—मैंने निश्चय किया कि अब मैं जहां रहूंगा, साथ में चक्की भी रखूंगा।

उसके बाद काशी जाने पर भी निश्चय के अनुसार दो चक्कियां रखीं, जिनका उपयोग हम चार पांच मित्र मिलकर करते थे—पीसते थे।

हम दोनों जब तक आश्रम में रहे, शाम की प्रार्थना में रसपूर्वक भाग लेते थे और उसके बाद गांधीजी के साथ ही 'सरखेज रोड' पर घूमने निकल जाते थे। यह क़ीमती मौक़ा होता था जब उनके साथ खुलकर बातें की जा सकती थीं। एक बार मैंने पूछा—'बापूजी, आपने मेरे एक पत्र के जवाब में लिखा था कि दिन में ढाई तोले मूंगफली ली जा सकती है; लेकिन इतनी सी मूंगफली से शरीर का पोषण कैसे किया जा सकता है ? आश्रम में तो बहुत से लोग और ज्यादा परिमाण में मूंगफली लेते हैं !' उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—'तुमने तो पत्र में मुझसे यही पूछा था कि अगर सिर्फ मूंगफली पर ही रहना हो तो एक दिन में कितनी ली जा सकती है ? लेने वाला कितनी उम्र वाला है, उसका स्वास्थ्य कैसा है, वगैरे बातों का तो पत्र में ज़रा भी उल्लेख नहीं था, इसलिए मैंने ढाई तोले का परिमाण बताया था, कि चाहे जैसी तबियत का आदमी हो, वह बीमार नहीं हो सकता !' मुझे तब अपने प्रश्न की अस्पष्टता का ख़याल आया।

मैंने एक बार उनसे पूछा—'बादाम, अर्श (बवासीर) के लिए प्रतिकूल है या नहीं ?' उन्होंने कहा—'बादाम बवासीर के अनुकूल नहीं होती, भारी (गरिष्ट) होने से शायद नुक़सान भी करे !' उस वक्त मैं बवासीर से पीड़ित था। कई मित्रों ने सलाह दी थी कि बादाम खाने

से स्वास्थ्य को पोषण मिलता है। किन्तु मेरे अपने अनुभव से गांधीजी की बात मिलती देखकर मैंने तब से प्रायः बादाम छोड़ ही दी है।

एक बार हमने पूछा—'बापूजी, दूध तो सात्विक है, दूध का उपयोग तो पहले ऋषि और योगी लोग भी करते थे, और आज भी करते हैं; ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य की दृष्टि से दूध के उपयोग के विषय में आपका क्या अभिप्राय है?' उन्होंने कहा—'योगी और ऋषि लोग, काफ़ी तादात में दूध और दूध की चीजोंका उपयोग करते थे इसीलिए तो उन्हें ब्रह्मचर्य को प्रस्थित रखने के लिए बहुत सावधानी रखनी पड़ती थी; दूध सात्विक है इसका मतलब यह नहीं है कि उसके विकार उत्पन्न नहीं होते; यह बात तो शास्त्रों और पुराणों में भी प्रसिद्ध है कि दूध पीनेवाले ऋषि और योगियों को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कितनी कठिन तपस्याएँ करनी होती थीं!'×

यदि किसी आश्रमवासी विद्यार्थी को एक दूसरे के बारे में कुछ शिकायत या प्रार्थना करनी होती तो वे शाम को घूमने जाने के वक्त गांधीजी से कहते थे। एक बार देवदास किसी मद्रासी लड़के के बारे में कुछ कह रहे थे; उस वक्त वह लड़का भी साथ ही था। गांधीजी दोनों की बातों का इतनी बारीकी से निरीक्षण कर रहे थे कि मुझे भी उसमें सोचने लायक बहुत कुछ मिला।

× पाठक गण गांधीजी के इस कथन से शायद यह समझेंगे कि वे दूध के उपयोग का विरोध करते हैं। ऐसी बात नहीं है, वे तो दूध के उपयोग को और प्रोत्साहन देते हैं, यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से वे दूध के उपयोग के पक्षपाती नहीं हैं; यदि उस दृष्टि से दूध को छोड़ा जाय तो शायद उनकी आध्यात्मिक वृत्ति को वह रुचे भी। किंतु गुण की दृष्टि से दूध बहुत ही कीमती चीज़ है, और हमारे पास उसकी तुलना में रखने लायक स्वास्थ्य-प्रद कोई चीज़ नहीं। उनके कहने का आशय यही है कि जब तक दूध के मुकाबले की किसी वस्तु का अनुसंधान न हो तब तक दूध का ही व्यवहार किया जाय। —संपादक

कुछ दिन बाद जब हम दोनों एक दूसरे से अलग हुए तब गांधीजी ने आत्मीयता और प्रसन्नता से कहा—'तुम जब चाहे यहां आ सकते हो!' उनके इस आदेश से बंधे हुए हमारे हृदय और शरीर ने तब दूसरी ओर खिंचकर प्रयाण किया।

(५) मैं पूना के 'भारत जैन विद्यालय' में था। उस वक्त शायद 'खेड़ा-सत्याग्रह' चल रहा था; उसी सिलसिले में गांधीजी पूना आकर गोखले के 'भारत-सेवक-समाज' के मकान में ठहरे थे। मैं बहुत से कॉलेजियन विद्यार्थियों को साथ लेकर शामको उनसे मिलने गया। मुझे देखकर उन्होंने पूछा 'तुम यहाँ हो?' 'जी हाँ!' मैंने जवाब दिया। कुछ देर ठहरकर उन्होंने फिर पूछा—'यहाँ क्या करते हो?' मैंने कुछ संकुचित होकर कहा—'यहाँ के छात्रालय में रहने वाले जैन विद्यार्थियों को धर्म और तत्वज्ञान के विषय में कुछ सिखाता हू, जिनमें से कुछ यहाँ आये भी हैं!'

उन दिनों गांधीजी सरकार के विशेष आमन्त्रण पर किसी कार्यवश पूना आये थे। उस दिन, उनके दक्षिण आफ्रिका वाले कोई अंग्रेज़ मित्र आने वाले थे जिन्हें स्टेशन पर लेने जाने की तैयारी उस वक्त वे कर रहे थे। 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' नाम की पुस्तक भी अपनी थैली में रखी, जिसे वे फ़ुरसत के वक्त पढ़ते रहते थे, ऐसा मैंने सोचा। उन्होंने मुझसे पूछा—'कहिए जैन तत्वज्ञान में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में विचार किया गया है उसका अर्थ क्या है?' मैंने बहुत ही संकोच से उनका प्रचलित अर्थ कहा, जिससे मुझे भी सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि मैं उस वक्त अनुभव कर रहा था कि मैं गांधीजी से बातें कर रहा हूँ। किन्तु उनकी नियत उस प्रश्न के द्वारा मेरी परीक्षा लेने या परिभाषाओं को व्यर्थ सिद्ध करने की नहीं थी, उनका उद्देश्य स्वभावानुसार तत्व या सत्यशोधन ही रहा था इसलिए उन्होंने पुनः प्रश्न किया, जो बिलकुल सरल साफ़ और सीधा था—'किसी चीज़

का दृष्टांत देकर समझाओ— मानों कि मुझे मोटर में न बैठने का नियम है। कोई ऐसा वक्त आ गया कि मुझे बहुत दूर जाना है, और वह भी जितनी जल्दी हो सके, तो मेरे उस नियम के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या मार्ग बताता है?...क्या उससे ऐसा रास्ता निकल सकता है कि जिससे नियम भी भंग न हो और मोटर का उपयोग भी किया जा सके? मुझे याद है कि मैं उस वक्त मैं प्रश्न इतना हल कर सका था कि जिसमें स्वयं मुझे भी सन्तोष न हुआ। लेकिन उनके इस प्रश्न ने मुझे बहुत कुछ सिखाया तब ही से मैं तत्व की प्रत्येक व्याख्या को शाब्दिक बन्धन से बाहर लाकर समझने का प्रयत्न करने लगा; मैंने तत्वों के सिद्धान्त पर सही अर्थों में तब हीसे विचार करना सीखा!

(६) जलियांवाला बाग के नृशंस हत्याकांड के बाद उसकी जाँच के लिए काँग्रेस की ओर से एक कमेटी बनाई गई जिसमें स्वयं गांधीजी भी थे। जहाँ तक मुझे याद है. उसकी रिपोर्ट लिखने के बाद गांधीजी काशी से वापस अहमदाबाद लौट आये। उन दिनों देश का वातावरण कुछ उग्र-सा था। मैं आगरे से अहमदाबाद आने पर गांधीजी के दर्शनों के लिए आश्रम में गया; उस वक्त आश्रम साबरमती की ओर.आ गया था। मेरे साथ जो दो मित्र थे उनमें एक जैन पंडित भी थे। हम लोग उस कमरे में गये जहाँ गांधीजी बैठे थे, पास ही स्व० महादेव देसाई भी बैठे हुए कुछ कर रहे थे। गांधीजी खिलखिला कर हँसे और धीमे स्वर में कहा-'आओ!' मैंने कहा—'आप तो बहुत ही थक गये हैं कहीं जाकर महीने डेढ़ महीने आराम क्यों नहीं करते? इस बार आप ज्यादा दुबले दिखाई देते हैं...शायद पंजाब में भटकने और रिपोट लिखने में बहुत ही मेहनत और जागरण किये हैं!' उन्होंने झट जबाब दिया 'कहीं शरीर को ऐसे अजगर की तरह पड़ा रखकर सहलाया जाता है!'

मैंने अपने साथ वाले मित्र का परिचय दिलाते हुए कहा—'ये पंडित हैं

और जैन साधुओं को पढ़ाते हैं!' तब गांधीजीने सदाकी तरह अपनी सार्थक मुद्रा में पूछा—'तब तो अग्नि को भी जलाते हैं, ठीक है न?' उपर्युक्त इन दोनों प्रश्नों ने मुझे विचार करने पर मजबूर किया। लेकिन इस वक्त शहर में से गांधीजी से मिलने के लिए कई विद्यार्थी आये थे और भावी आन्दोलन में उनसे अपनी अपनी स्थिति पूछ रहे थे। उस उत्तेजक वातावरण में गांधीजी ने किसी कॉलेजियन को जो वाक्य कहा था, वह मुझे अभी तक अच्छी तरह याद है—'तुम जवान हो, मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि जवानी में निर्दोष आनन्द पाने का रास्ता कौन सा है!'

(७) सन् १९२४ की बात है। उस वक्त गांधीजी अपना एपेन्डिसाइटिस का ऑपरेशन कराने के बाद चंगे होकर जुहू के किनारे रहने आये थे। मैं उस वक्त सांताक्रुज़ में अपने एक मित्र के मकान पर ठहरा था। एक दिन काका कालेलकर सेठ रविशंकरजी को लेकर मेरे पास आये और मुझसे कहा कि 'आप गुजराती पुस्तक 'श्रीमद् राजचन्द्र' का हिन्दी अनुवाद कीजिये, बापूजी भी यही चाहते हैं!' शाम को पांच बजे मिलने की बात निश्चित हुई। ठीक पाँच बजे डॉ. एनी बॅसेन्ट भी मिलने के लिए आने वाली थीं।

कुछ ही मिनट पहले काका साहब मुझे गांधीजी की कुटिया पर ले गये। मैं अभी अन्तिम सीढ़ी पर पैर ही रख रहा था कि मुझे देखकर गांधीजी हँसे और बोले—'मुझे मालूम हुआ है कि तुम हिन्दी अच्छी तरह जानते हो...' एकाएक बीच ही में काकासाहेब बोल उठे-'बापूजी आपने तो कुशल क्षेम भी नहीं पूछा और एकदम काम की ही बात कह डाली!' बापूजी ने कहा-'क्योंकि एनी बॅसेन्ट को आने में एक ही मिनट बाकी रहा है; कुशल-क्षेम बाद में कहाँ नहीं पूछे जा सकते? फिर मुझसे पूछा—'कहिए, आपकी तबियत तो ठीक है न?' और खिलखिलाकर हँस पड़े! मैंने कहा—'आप चिन्ता न करें, अनुवाद के बारे में, मैं और काकासाहब सोच समझकर बातें करेंगे!'

तब गांधीजी ने कैफियत सी देते हुए एक ही महत्त्वपूर्ण वाक्य कहा —'वक्त कम होता है तब मैं पहले काम की ही बात करता हूं!' उनका यह वाक्य मुझे कई बार सहायता देता रहा है।

(८) एक बार किन्हीं राष्ट्रकर्मी सज्जन और किसी साधु के आंतरिक जीवनके विषय में काफ़ी तंग मामला आ बना! मैं उस वक्त काठिया-वाड में था। एक दिन आश्रम से मेरे एक मित्र का पत्र आया, जिसमें लिखा था–'गांधीजी इस बारेमें पूरी हकीकत जानना चाहते हैं। जिससे दोनों व्यक्तियों के प्रति जरा भी अन्याय न हो।'

मैं अहमदाबाद पहुँचकर सीधे आश्रम को गया। तब तक वहाँ उस विषय में मामला कुछ ठंडा हो चला था। लेकिन मैं तो खास इस काम से आया था इसलिए सीधा गांधीजी से मिलनेके लिए गया, मुझे उनसे कुछ कहना भी था। उन्होंने मुझसे कहा—'तुम जाकर उन महाशय से मिलो वे अभी आश्रम में ही हैं, जरा भी अविनय न दिखाते हुए निर्भयतापूर्वक उन्हें यह समझा दो कि तुम्हारा यह रुख़ ठीक नहीं है!'

गांधीजी की इस विषयमें ऐसी बातचीत से उनको 'सत्याग्रह' की फिलासफी कुछ कुछ समझा कि सच बोलने और आचरण करने में जरा भी संकुचित न होना चाहिए साथ ही साथ विनय या नम्रता को भी नहीं छोड़ना चाहिए।

(९) एक बार मैं श्रीयुत् पूंजाभाई के साथ आश्रम में गया; मुझे उस हिन्दी अनुवाद के बारे में बापूजी से कुछ कहना था। मैंने जब उनसे कहा कि अनुवाद के काम में प्रगति नहीं हो सकती तो उन्होंने बिलकुल सीधे सादे ढंग से पूछा कि—'रेवाशंकर जी के व्यवहार में कहीं कुछ मेलापन तो नहीं है न!' ये उन्हीं के शब्द हैं; मैंने कहा –'नहीं वैसा तो कुछ नहीं है!' लेकिन उनके उक्त वाक्य पर से मैंने

जान लिया कि वे अपने परिचित और प्रिय मित्रके व्यवहार की सफ़ाई के विषय में भी कितनी सावधानी रखते हैं।

(१०) सन् १९२७ में गुजरात में जलप्रलय—भीषण बाढ़ आई थी। विद्यापीठ का मकान उन दिनों नया ही बना था; मैं बाढ़ के कारण उस मकान में ही घिरा रह गया घर न जा सका। उन दिनों आचार्य कृपलानी भी वहीं रहते थे। मकानके चौक में इतना पानी भर गया था, और ऊपर से पानी इतना चू रहा था कि हमें मकान गिरने का भय मालूम होने लगा! वहाँ के आदमियों और विद्यार्थियों ने कहा कि—यह मकान नया है आर इसके बनाने में भी ज्यादा सावधानी नहीं रखी गई है, अगर यह गिर गया तो पुस्तकालय और निवासियों का चूरा ही समझना।' मुझे तो सिर्फ पूछकर ही मालूम करना था। तब मैंने कृपलानी जी से पूछा—'आप इस मकान के बारे में क्या कहते हैं!' उन्होंने कहा—'मकान का एक हिस्सा झुका हुआ है, अभी नहीं तो कुछ दिन बाद वह गिरेगा जरूर!' मैंने कहा—'तब क्या किया जाय!' वे बोले—'बरसात बन्द हो तब ही कुछ किया जा सकता है। मकान तो फिर से बनाना ही चाहिए लेकिन इस विषय में बापूजी से कौन कहेगा? उन्हें वैसा कहना तो सरदार वल्लभभाई के विरुद्ध शिकायत करना जैसा होगा!' तब मैंने कहा—'उससे क्या? मैं खुद बापूजी के पास जाऊंगा; मकान के निवासियों का नुकसान और खतरा हो तो बापूजी को पहले से ही अवगत क्यों न करा दिया जाय? नहीं तो मौका आनेपर वे ही कहेंगे कि तुममें से किसी ने मुझे बताया क्यों नहीं?'

आखिरकार ठीक समय पर मैं गांधीजी के पास पहुँच गया। मकान के बारे में मैंने जो भी कुछ कहा, उन्होंने बहुत ही शांति और गंभीरता-पूर्वक सुना, और उस विषयमें आवश्यक कार्य करने को कहा। इसके कुछ दिनों बाद खुद सरदार भी आकर मकान को देख गये

और पक्की जाँच पड़ताल की। गांधीजी के इस व्यवहार ने मेरे मन में नैतिक साहस का सूक्ष्म बीज बोया!

(११) सन् १९३२ में गांधीजी यरवदा जेल में थे। उन्हीं दिनों उन्होंने पत्र द्वारा स्व० पूंजाभाई से जो उस वक्त अहमदाबाद में थे, पूछा कि—'जिनविजयजी और पं. सुखलाल कहाँ हैं और क्या रहते हैं।' पूंजाभाई ने वह पत्र मुझे बम्बई के पते पर भेजा। उन दिनों मैं पढ़कर अंग्रेजी सीखने का अभ्यास कर रहा था। मैंने श्री० पूंजाभाई के ही द्वारा गांधीजी को जवाब लिखाया कि 'मैं बम्बई में हूँ और दूसरी प्रवृत्तियों के साथ अंग्रेजी का अभ्यास कर रहा हूं' उस पत्र में मैंने अपने अंग्रेजी सीखने का उद्देश्य बताया था और सलाह के रूप में उनसे पूछा भी था कि आप इस विषयमें कुछ निर्देशन करेंगे और राय देंगे कि किस तरह और किस ज़गह अंग्रेजी सीखने में सहायता मिलेगी?' उन्होंने जवाब में लिखा था कि—'तुम्हारी अंग्रेजी सीखने की विचारधारा के पीछे दोष तो है ही लेकिन अगर तुमने दृढ़निश्चय ही कर लिया तो तुम्हारे लिए 'शांतिनिकेतन' ठीक रहेगा!'

इस बार गांधीजी ने मेरी अंग्रेजी सीखने की विचारधारा वाले दोष का केवल संकेत ही किया था लेकिन इस बारे में पहले सन् १९२९ में कभी उनसे मेरी बातचीत हुई थी। विद्यापीठ का कार्य पूरा होने पर मुझे अंग्रेजी सीखना था; मैंने इस विषय में गांधीजी से सलाह मांगी। उस वक्त उन्होंने कहा था कि 'अंग्रेजी भाषा तो पृथ्वी जैसी विशाल है; अगर तुम जैसे उसमें शक्ति खर्च न करे तो कुछ बिगडेगा नहीं। तुम जो जो शास्त्र जानते हो, अगर जान सको तो, संस्कृत प्राकृत और पाली के शास्त्रों के ठीक ठीक अर्थ और तत्वों को प्रकाशित करना कोइ सरल काम नहीं है वह तो अनन्त शक्ति का आकांक्षी है, इसलिए तुम उनके रहस्याचिन्तन में ही अपनी शक्ति क्यों नहीं लगाते?' उन्होंने कुछ ठहर कर फिर कहा—'देखो न, राजचन्द्रजी की स्मृति अपार थी एक बार

पढने या सुनने भर से उन्हें अपरिचित अंग्रेजी भाषाका पृष्ठ पृष्ठ याद रह जाना था, किंतु वे उसके जंजाल में न पड़े बल्कि अपना गहन चिन्तन और मनन जारी रखा जिससे वे बहुत कुछ नई और अच्छी चीजें दे भा गये ! तुम भी उसी रास्ते पर क्यों नहीं जाते !' लेकिन उस वक्त जब उन्होंने अंग्रेजी सीखने की मेरी उत्कट अभिलाषा देखी तो बोले–'ठीक है, अगर तुम चाहते तो काम की दृष्टि से सीख लो !'

प्रसंगवश उसी वक्त मैंने श्रीमद् राजचन्द्रकी 'पुष्पमाला' के बारे में कहा —'सोलह वर्ष की छोटी सी अवस्था में इतना सुन्दर ग्रंथ उन्होंने लिखा, जानकर मुझे आश्चर्य होता है !' गांधीजी ने मुझे एक ही वाक्य में जवाब दिया—'यही तो पुनर्जन्मकी साक्षी है !'

(१२) अंतिम महत्वपूर्ण और रसप्रद घटना सन् १९४४ में घटी। गांधीजी जनाब जिन्ना से मिलने के लिए बम्बई में ही थे। उन्होंने एक दिन किसी जैन साध्वी के जरिये जाना कि मैं बम्बई में ही हूँ, इसलिए उन्होंने उसी साध्वी के जरिये मुझे स्मरण की सूचना दी। मैंने उन्हीं के साथ गांधीजी को पत्र भेजा–'आपसे मिलने के संयोग, बीच बीच में बहुत से आये लेकिन बिना प्रयोजन आपका समय लेना ठीक न समझकर मैं आपसे मिलने नहीं आया। आपने सन् १९३८ में मेरे ऑपरेशन के वक्त तार किया था कि "तुम बच जाओगे और हम मिलेंगे !" तार का पूर्वार्ध तो सच निकला लेकिन अभी उत्तरार्ध बाकी है !' उन्होंने उसी चिट्ठी में लिख भेजा कि 'उत्तरार्ध को भी सच करना ही होगा, तुम चार बजे खुशी से आ सकते हो, मेरा मौन-दिवस है तब भी आ सकते हो, और इस बार तुम जब भी चाहे मुझसे मिलने आ सकते हो !' उनकी सूचना मिलने पर मैं वहाँ चार बजे के पहले ही जा पहुंचा। उस वक्त उनका मौन था फिर भी मैं प्रतीक्षा में बैठा ही रहा ! कुछ देर बाद मौन पूरा हुआ। तब हँसकर बोले—'मैं तो कातते वक्त मौन रखता हू। पहले कातते वक्त बोलता था, लेकिन कुछ मित्रों के

कहने पर, एक वक्त में दो काम न करने की दृष्टि से कातते वक्त न बोलने का निश्चय किया है !'

इतनी बातचीत के बाद मैं भी कुछ धृष्ट हुआ था; मैंने उनकी आलोचना करते हुए कहा—'आपने एक वक्त में दो काम न करने की दृष्टि से बोलना बन्द किया है लेकिन वह पूरी तरह कहाँ पाला जाता है ! आप बोलते तो नहीं, लेकिन अगर दूसरों की बातें सुना करें तो एक वक्त, एक क्रिया करने का नियम पूरा नहीं होता ! बहुधा सुनने में बोलने से ज्यादा एकाग्रता रखनी होती है; और इससे कातने में तो बाधा होगी ही।'—मैंने फिर कहा–'किन्हीं प्राचीन जैन आचार्यने एक समय में दो काम न करने का कहा है सिर्फ इसीलिए कि एक काम तो बहुत अच्छी तरह सम्पन्न होगा !' तब बापूजी ने गंभीरता-पूर्वक कहा– 'परिणाम मालूम हुआ; मेरा नियम अभी अधूरा है और उसे पूरा करना बाकी है; कभी भी उसे पूरा करने का प्रयत्न करूंगा ही !'

बम्बई। १६-७-१९४५.



गांधीजी और उनके साथी

● दत्तात्रय बालकृष्ण कालेलकर ●

(१) सन् १९१५ में हिन्दुस्तान आनेपर कुछ ही दिनों बाद गांधीजी शांतिनिकेतन आये क्योंकि 'फिनिक्स आश्रम' से लौटी हुई मंडली उन दिनों वहीं थी। मैं भी उस वक्त स्वतन्त्र रूप से वहाँ गया था। जिस दिन गांधीजी आये उस रोज़ बहुत रात तक हमने बातें की। सबेरे उठकर प्रार्थना करने के बाद हम लोग मज़दूरी के लिए गये। वहाँ से लौटकर क्या देखते हैं कि हमारे लिए अलग अलग थालियों में नाश्ता, फल वगैरह अलग अलग सँवार कर बकायदा तैयार रखे हैं। हम सब तो काम पर गये थे, फिर माता की तरह यह सब मेहनत किसने की होगी? मैंने गांधीजी से पूछा (उन दिनों मैं उनसे अंग्रेज़ी में ही बोलता था) 'यह सब किसने किया? उन्होंने कहा—'क्यों? मैंने किया है।' मैंने कुछ संकोच से कहा—'आपने क्यों किया? आप तो सब तैयारी करें और हम बैठे बैठे खाएँ, यह मुझे ठीक नहीं लगता।' 'क्यों, इसमें उज्र क्या है?' मैंने कहा—'आप जैसों की सेवा की लायकी हम में होनी चाहिए, तब न।' उस वक्त उन्होंने जो जवाब दिया उसके लिए मैं तैयार नहीं था। मैंने अंग्रेजी में कहा था—'We must deserve it' यह सुनकर उन्होंने बिलकुल सीधे-सादे ढंग से कहा—'Which is a fact' (अर्थात तुम उसके लायक हो ही!) मैं उन्हें देखता ही रह गया। उन्होंने हँसते हँसते कहा—'तुम सब तो काम पर गये थे, और नाश्ता करके फिर काम पर लग जाओगे; मुझे फुरसत थी इसलिए मैंने तुम लोगों का वक्त बचाया; एक घंटे काम करके, यह नाश्ता करने की योग्यता तुमने अपने आप पाली है।'

मेरे कहने का मतलब तो यह था कि इतने बड़े नेता और सत्पुरुष की सेवा लेने की लायकी हम में होनी चाहिए। यह भाव तो उनके

दिमाग् तक पहुँचा ही नहीं; वे तो सबों को एक दृष्टि से देखनेवाले ही ठहरे इसीलिए उनकी दृष्टि में तो मैंने सेवा की इसलिए सेवा पाने का हक़दार बन ही गया।

(२) सन् १९१८ में, मज़दूरों की हड़ताल के विषयमें गांधीजी ने उपवास का निश्चय किया था। यह सुनकर महादेव भाई देसाई और मैंने उनके साथ उपवास करने का निश्चय किया। महादेव भाईने गांधीजी के पास जाकर अपना विचार व्यक्त किया गांधीजो ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन वे नहीं माने। वह तर्क और चर्चा का वक्त नहीं था। गांधीजी ने कुछ कड़ाई से कहा—'महादेव, मैं भी यह जानता हूँ कि तुम्हारा धर्म क्या है। इस वक्त तुम्हें खाना ही चाहिए, अगर तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखूँगा।' महादेव भाई ग़मगीन चेहरा लेकर मेरे पास आये और बोले—'बापू अगर मेरा मुँह नहीं देखेंगे तो मैं जीऊँगा कैसे!'—मैंने कहा—'बापू तो हमारी अन्तरात्मा की तरह हैं; अगर वे खाने का कहे तो हमें खाना चाहिए। खाकर हमें हमारी कसौटी होने देनी चाहिए।'

मेरा नाम भी गांधीजी के पास गया था। मैंने भी उनके पास जाकर कहा—'महादेव भाई ने मुझे सब कुछ कहा है; हम दोंनों ने खाने का निश्चय कर लिया है; मैं सिर्फ़ खजूर और पानी पर रहूँगा; लेकिन इसका आपके उपवास से कुछ सम्बन्ध नहीं है यह तो मेरा एक स्वतन्त्र प्रयोग है।'

गांधीजी के मन में कभी किसी पर व्यर्थ शंका नहीं उठती; उन्होंने उसी वक्त कहा—'ठीक है, तुम्हारा प्रयोग भी जारी रखो।' मैंने सच-मुच ही यह प्रयोग करने का विचार किया था। मुझे डर था कि कहीं गांधीजी यह शंका न करें कि इसने चालाकी से दूसरा रास्ता ढूँढ निकाला है। लेकिन यह देखकर मुझे सन्तोष हुआ कि उन्होंने मेरे इस प्रयोग के विषय में ज़रा भी शंका न की। इसी तरह उन्होंने

अनुसूया बहन को भी उपवास करने से रोका था। शाम की प्रार्थना में उन्होंने कहा कि 'अगर तुम लोग भी मेरे साथ उपवास करोगे तो उससे मेरी शक्ति बढ़ने के बजाय घटेगी ही, क्योंकि मुझे शांति के स्थान पर दिनरात तुम लोगों की ही चिन्ता मन में बनी रहेगी। तुम्हारा कर्तव्य तो यही है कि तुम खा पीकर रचनात्मक कार्यों में मुझे सहयोग दो। अगर इस उपवास से मेरी शारीरिक शक्ति में कमी हो तो तुम्हें दुःख न करना चाहिए। अगर किसी दिन आश्रम में तुम्हें मिष्टान्न बना कर खाने का अवकाश हो तो तुम्हें वह भी बना कर खाना चाहिए। अगर मेरे साथी भी मेरे साथ अनशन करेंगे तो मेरा सब कार्यक्रम रुक जायगा और मैं स्वयं अनशन न कर सकूँगा।

(३) स्व० महादेव देसाई नें गांधीजी के साथ रहना शुरू किया उसकें कुछ दिन बाद एकदिन हम बातें कर रहे थें। महादेव भाई बोले—'एक दिन बापू जी कहीं मिलने गये थे। वे कुर्सी पर बैठे और मैं ज़मीन पर। तब बापूजी बोले 'यह ठीक नहीं है तुम मेरे पास इस कुर्सी पर बैठो।' एकाएक मेरी हिम्मत कुर्सी पर बैठने की नहीं हुई, तब उन्होंने कुछ खीझकर उलाहना देते हुए कहा—'क्या तुम्हें इस जमानेकी 'फ़ेशन' भी बतलानी पड़ेगी ? इस कुर्सी पर बैठ जाओ!' तब मै किसी तरह शर्माता हुआ कुर्सी पर बैठ गया।' तब मैंने चुटकी ली—'नई दुलहन की तरह ही न ?'

(४) यह बात भी महादेव भाई से ही सुनी है। एक बार वे गांधीजी के साथ संयुक्त-प्रांत की सफर कर रहे थे। जिस तरह गांधीजी को चलती गाड़ी में लिखने का अभ्यास है उसी तरह महादेव भाई को भी था। एक रात में देर तक वे लिखते रहे और काम पूरा करके सो गये सवेरे जल्दी उठना उनकें लिए एक तरह से असम्भव था। जब वे उठे तो देखा कि गांधीजी ने उनके लिए पहलेसे ही वेटिंग रूममें ख़ुद जाकर

दूध शक्कर पांवरोटी और मक्खन वगैरह मंगाकर तश्तरी में तैयार रखा था।

गांधीजी ख़ुद तो चाय नहीं पीते, लेकिन उन्हें मालूम था कि महादेव भाई चाय पीते हैं इसलिए उन्होंने उनके नाश्ते की सब तैयारी कर दी और सिर्फ़ उनके जागने का इंतिज़ार कर रहे थे। जब महादेव भाई उठे तो शरमाये क्योंकि उनके चाय पीने का भेद गांधीजी को मालूम हो गया था! लेकिन गांधीजी ने मीठी बातों से उनका संकोच दूर किया और कहा—'रात की थकावट भी तो उतरनी चाहिए न!'



जवानी की नज़र से !

● गणेश वासुदेव मावलंकर ●

महात्मा गांधी—उस वक्त, सिर्फ़ श्री० गांधी जब हिन्दुस्तान में आये तो उन्होंने अपना कार्यकेन्द्र मुख्यरूप से अहमदाबाद में ही रखा था। यही कारण था की मैं उनके निकट परिचय में आया और मुझे उनके आंतरिक और बाह्य दर्शन पाने का सौभाग्य मिला। साथ ही साथ काफ़ी समय तक उनकी देखरेख के नीचे थोड़ा बहुत सार्वजनिक कार्य करने का मौका भी मिला। ज्यों ज्यों उनकी प्रसिद्धि या कार्यक्रम जनता में व्यापक होता गया त्यों त्यों उनके प्रत्यक्ष परिचय के अवसर कम होते गये, या यों कहिये कि मैं स्वयं कम करता गया। मुझे उनके साथ काम करने की प्रबल उत्कंठा थी। और कुछ नहीं तो उनसे मिलने या बातें करने के जो मौके मिलते, उन्हीं का फ़ायदा मेरे लिए पर्याप्त होता था। लेकिन जिन बापूके ऊपर राष्ट्रोद्धार का इतना बड़ा बोझा हो उसमें मेरी बातों का बोझा (या विचार) और बढ़ाना मुझे ठीक न लगा इसलिए कुछ दिनों बाद मैंने निश्चय कर लिया कि खास काम के सिवा उनसे मिलने या बातें करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए; यह नियम मैंने सम्भवतः १९२४ में किया। उसके बाद इन बीस बरसों में उनसे प्रत्यक्ष परिचय या अध्ययन की दृष्टि से उनके आन्तरिक और बाह्य दर्शन के बहुत कम अवसर आये; यह भी कह सकते हैं कि बिलकुल नहीं आये !

मुझे उनके प्रथम-दर्शन सन् १९१५ में हुए। धोती, अंगरखा, एक दुपट्टा और सिर पर काठियावाड़ी साफ़ा यही उनकी उस वक्त की पोशाक थी। और इससे बिलकुल विपरीत—कोट, पतलून, जाकेट, साथ ही कभी कभी नेकटाई भी; तथा सिर पर चमकदार रेशमी पगड़ी यही हम

वकीलों की उन दिनों की पोशाक थी। उस वक्त यदि पोशाक पर से किसी व्यक्ति की मान्यता या विचार-धाराका अनुमान किया जाता तो वह ग़लत न निकलता था। एक तो सीधेसादे देशसेवक, गरीबों के बन्धु त्यागी और देश के लिए जो चाहे करने को तैयार थे, और दूसरा गलत-फ़हमी (या गर्व) से अपने आपको शिष्ट, बुद्धिमान, देशभक्त और नेता के योग्य माननेवाला युवक था। परिचय के बाद करीब दो बर्ष तक गांधीजी को मैं जिस दृष्टि से देखता था, वह सार्वजनिक हित के लिए कुछ सोचने वाले वकील—वर्ग की ही दृष्टि थी !

गांधीजी का वर्तमान आश्रम १९१७-१८ में बँधा था, उसके पहले उनका आश्रम प्रायः दो वर्ष तक कोचरब में किराये के मकान में रहा। आश्रम का रीतिरिवाज मुझे कुछ विचित्र-सा लगता था ! बैठने के लिए मामूली दरी या चटाई होती थी, कुर्सी अथवा टेबल का तो निशान भी न था ! गांधीजी स्वयं खुले बदन बैठे रहते और अंग्रेजी का अभ्यास होते हुए भी गुजराती में ही बातचीत या लिखा पढ़ा करते थे। बरू (लकड़ी) की कलम से लिखते थे; ब्लॉटिंग पेपर की जगह काली रेती और काली स्याही की जगह देहाती काली स्याही काम में लाते थे। गांधीजी पीसने, कूटने खाना पकाने और परोसने तक का काम खुद ही करते थे। यह सब देखकर कभी कभी मैं बहुत ही खीझ उठता था—'यह सब क्या है ? इसमें कुछ सार भी है, या सिर्फ सनक ही है। जिन्होंने दक्षिण आफ्रिका में इतना नाम पाया और विलायत में बरसों बिताये, वे ऐसा क्योंकर करते हैं ? यही प्रश्न मुझमें बार बार उठता था। उन्हें पागल कहने का साहस भी नहीं होता क्योंकि वे विचारक और दूरदर्शी मालूम होते थे; फिर भी मेरा तरुण मन यह बात मानने को कतई तैयार न था कि इन सब क्रियाओं में कोई गूढ़ार्थ होगा।

गांधीजी के प्रति ऐसी मनोदशा रहते बहुत समय बीत गया। लेकिन जैसे जैसे उनसे मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे मेरी दृष्टि बदलती गई, और एक दिन ऐसा भी आया, जब महात्मा (महान आत्मा) का सच्चा दर्शन मुझे हुआ; आज तक भी वह दर्शन मेरे लिए अपूर्ण ही है, ज्यों ज्यों मैं देखना चाहता हूं त्यों त्यों मुझे ज्यादा ही ज्यादा दिखाई देता है; धीरे धीरे मुझे अनुभव होने लगा कि कुछ समय पहले जिसको म 'पागलपन' समझता था वह 'पागलपन,' अब मेरी ही दृष्टि में समाया हुआ है।

गांधीजी के मेरे परिचय के सभी संस्मरण लिखना इस लेख का हेतु नहीं है; बहुत से संस्मरण तो बिलकुल व्यक्तिगत, मृदु और प्रेममय हैं; यह सब लिखते हुए उन बातों की याद आते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है ! किंतु उन संस्मरणों को इस लेख की सीमा के बाहर रखना ही ठीक होगा। मेरा विचार सिर्फ उतने ही संस्मरण यहाँ लिखने का है जिससे उनके स्वभाव के एकांग से जनता परिचित हो सके।

आश्रम के प्रारंभिक दिनों में वहाँ के नियम बहुत सख्त थे; भोजन बिलकुल सादा मिलता था; शाक, तरकारी सब उबाली हुई मिलती जिसमें मिर्च या छौंक न होता था। मसालेका तो नाम भी नहीं था, और न घी के कहीं दर्शन थे। नमक भी जरूरत होने पर मिलता था। गांधीजी स्वयं परोसते थे। अगर भोजन के वक्त मुझ जैसे युवक भी हाजिर होते तो उनसे खाने का प्रेमपूर्वक आग्रह करते थे। उस वक्त भावुकता-वश इन्कार करना मुश्किल होता था। ऐसे समय मेरे एक दोस्त के साथ मज़ेदार बात हुई। वे कॉलेज में थे; अंग्रेजी बहुत अच्छी लिखते थे। उनका यह भी मत था कि अगर सुन्दर अंग्रेजी भाषा में लेख या अर्ज़ी लिखना आता हो तो यह भी देशसेवा का ही एक तरीका है। उस वक्त बहुत से सुशिक्षित

व्यक्ति भी इस बात को मानते थे। आजकल भी शायद बहुत से पढ़े लिखे व्यक्ति यही मानते हैं कि सुन्दर रीतिसे लिखने और भाषण करने से राजनीतिज्ञता की परख होती है। अखबारों के जरिये मैं ऐसा अंदाज़ करता हूँ। मेरे वे मित्र भी ऐसा ही कुछ समझते थे। उन्हें बहुत अच्छी अंग्रेजी आती थी इसलिए एक दिन गांधीजीसे बिदा लेते वक्त कहा ' मेरे लायक कोई कामकाज हो तो आप मुझे कहें, मै अपनी शक्ति भर करने का प्रयत्न करूंगा!'

उनका अनुमान था कि गांधीजी शायद एक आध अंग्रेजी Article (लेख) लिखने का कहेंगे। किंतु उनका अनुमान गलत निकला; उस वक्त जो घटना हुई उसे वार्तालाप के रूप में ही यहाँ लिखता हूँ–

गांधीजी—'वाह, यह तो बहुत अच्छी बात है, आपको अभी वक्त है क्या?' वे बोले—जी हा!' गांधीजी ने झट काम बताया-'क्या आप कुछ देर ठहरेंगे? ये गेहूँ पीसने के लिए निकाले हैं। ये गेहूँ और चाँवल बीनने हैं। आप मदद करेंगे? (उस वक्त आश्रम के दूसरे आदमी भी यही काम कर रहे थे)।

वे बोले...'हाँ जरूर!' (बेचारे को गुस्सा तो बहुत आया और मन में अपमान जैसा भी लगा लेकिन करते भी क्या? इन्कार भी कैसे किया जा सकता था?)

गांधीजी बोले—'मैं तुम्हारा आभारी हूँ!'

मरे मित्रने काम शुरू किया; गांधीजी फिर से अपने काम में लग गये। करीब एक घंटा बीता होगा। वे ऊब कर उठे और गांधीजी के पास जाकर बोले—'मैं अब छुट्टी लेता हूँ; बहुत वक्त गुजर गया!' गांधीजी ने मुस्करा कर पूछा–'क्यों, घबरा गये क्या?' वे झट बोल उठे-—'नहीं, नहीं!' (सचमुच घबरा तो गये थे लेकिन, शिष्टाचार के कारण वैसा नहीं बोल सके)

'तो घर बहुत जल्दी पहुँचना है ?'

'जी, जरा ज़रूरी काम है !'

'जल्दी किस बात की है ?'

'रात को भोजन में देर हो जाती है, और मुझे शाम को नाश्ता करने की आदत है; नाश्ते का वक्त हो गया इसलिए अब जाना चाहिए !'

गांधीजीने हँसकर कहा—'ओ हो, सिर्फ इसी लिए घर जाने की कोई ज़रूरत नहीं है; हमारे भोजन में भी आधा घंटा बाकी है। (उस वक्त ५॥–६ बजा था) अगर आपको हमारी नमक-रोटी से काम चल जाता हो, तो हमें भी एक बार आपके साथ भोजन करने का मौका दीजिए ! मैं काम में था इसलिए आपसे बात न कर सका मुझे माफ करें। हम भोजन करते वक्त बात करेंगे !'

'वाह इसमें माफी की क्या बात है, मैं तो यहाँ आश्रम की नमक-रोटी का बहुत दिनों से इच्छुक हूँ !'

कुछ देर में भोजन का वक्त हुआ। भोजन, कल्पना से भी अधिक सादा था–मिर्च; छौंक और मसालेसे रहित उबाला हुआ भोजन–तरकारी, चाँवल, दाल का पानी और सूखी (घी रहित) रोटी यही सब था ! गांधीजी ने बहुत प्रेम–पूर्वक उनको अपने पास बैठाया। भोजन शुरू होते के साथ ही बातचीत भी शुरू हुई ! उन (मेरे मित्र) को तो रोटी का प्रत्यक टुकड़ा पानी के घूँट के साथ उतारना पड़ता था; यह करते हुए भी वह छोटी सी रोटी उनसे पूरी नहीं खाई गई !

वहाँ का यह नियम था कि भोजन करने के बाद खानेवाला खुद अपने हाथों से अपना थाली–लोटा माँजता; जैसे तैसे करके वे इस परीक्षा से भी पार निकले; और अंतमें जब इन सब कामों से निवटे तब

कहीं उन्हें शांति मिली ! जाते वक्त गांधीजीने उनसे कहा—'आपकी देशसेवा की इच्छा, दर असल बहुत प्रशंसनीय है; आपके ज्ञान और बुद्धि का देशसेवा में काफ़ी उपयोग हो सकता है। लेकिन उसके लिए शरीर का भी तन्दुरुस्त और मज़बूत होना ज़रूरी है; और अभी से उसकी तैयारी में लग जाना, यही आपका देशसेवा की ओर पहला क़दम होगा !' गांधीजी ने उन्हें यह सीख, बहुत ही भावना और प्रेम-पूर्वक दी थी।

उपर्युक्त धटना, गांधीजी से मेरे परिचय की प्रारंभ की है; यह बात हुई तब मैं ख़ुद वहाँ हाज़िर नहीं था, बल्कि मेरे एक दोस्त ने दूसरे दिन मुझे बताया। हमें उस वक्त इस बात का रंज़ हुआ कि हमारे एक मित्र को इस वज़ह से कुछ तक़लीफ़ हुई, और गांधीजी पर भी कुछ गुस्सा-सा आया, लेकिन जब हमें यह मालूम हुआ कि गांधीजी ने उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार किया था, तब हमें शांति हुई। उन्होंने, उनसे (मेरे मित्रसे) वही काम करने को कहा था, जो वे ख़ुद और उनके साथी दूसरे आश्रमवासी हमेशा करते थे, फिर इसमें गांधीजी का क्या क़सूर था ? जान बूझकर उनका इरादा मेरे मित्र का अपमान करने का नहीं था; बिदा होते वक्त भी उन्होंने स्नेहपूर्वक सीखही दी थी। हमें जो उनकी मानहानि या अपमान का शक हुआ था वह हमारा एक तरह का अहंकार ही था कि—हम ग्रेजुएट हो कर परोसने का काम करें ? .छि;, यह नहीं हो सकता !...हम तो कुर्सी-टेबल पर बैठकर सबोंको हुक्म कर सकते थे, देशहित के उपायोंकी योजना बना सकते थे, फिर उस पर जनता को अमल करना चाहिए था ! लेकिन हमने कभी यह ख्याल नहीं किया कि हमारे अनुमान के पीछे अनुभव का भी बल होना चाहिए। अभी भी ऐसा मालूम होता है कि सबोंने इस बात का ख्याल करना सीखा नहीं है ! जब हमारे यही विचार थे, तब उसमें गांधीजी क्या करते ? लेकिन इस घटना के बाद हम गांधीजी की

प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देने लगे; और जैसे जैसे अनुभव होता गया, हमें लगा कि उसमें ग़लती हमारी ही थी !

दूसरी घटना सन् १९२० की है । उस वक्त गांधीजी ने स्कूलों, कॉलेजों, अदालत और धारासभाओंके बहिष्कार का प्रस्ताव रखा था। मुझे बुद्धिपूर्वक तो यह कार्यक्रम ठीक जँचता था लेकिन मनमें ऐसा अनुभव होता था कि यह व्यावहारिक नहीं है, इसलिए ठीक नहीं है! मैं खुद सन् १९२० के ज़माने में वक़ालत का पेशा छोड़ने को तैयार नहीं था; उस वक्त मेरी वक़ालत नई नई थी, और जम रही थी; भविष्य में उसकी उन्नति भी प्रत्यक्ष थी। साथ ही साथ मेरी एक आकांक्षा यह भी थी कि पूरे बीस वर्ष वक़ालत करने पर ही सार्वजनिक कार्य में जीवन बिताना चाहिए। एक बात और, जब मेरे साथ दूसरे सभी वकील अपनी वक़ालत नहीं छोड़ते तब मुझ अकेले के छोड़ने भर से देश को क्या फ़ायदा हो सकता था—यह भी मेरा एक तर्क था। अब गांधीजी के ख्याल इस बारे में क्या थे, यह जानना भी ज़रूरी था। 'तुम्हें यह कार्यक्रम रुचता है न? फिर दूसरोंकी राह क्यों देखते हो? यह तो पुण्यका काम है, देश के उद्धार के लिए किया जानेवाला धर्मकार्य है.. .अगर हमसे सब काम न हो, और थोड़ा भी सत्कार्य हो सके तो उसे करने में क्या ऐब है?...उतना तो नतीजा निकलेगा न? अगर इसी वक्त किसी काम का नतीजा मालूम न हो तो कुछ वक्त बाद मालूम होगा, उसका असर हुए बग़ैर नहीं रह सकता!'

लेकिन ये बातें मेरे गले नहीं उतरतीं थीं; क्योंकि मुझे अपने त्याग का प्रत्यक्ष फल उसी वक्त देखने की लालसा थी । मैंने सन् १९१० से ही अपने नोट पेपर पर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' यह सूत्र छपा लिया था; लेकिन यह जाहिर है कि मैंने तबतक इसका उपयोग नहीं किया !

जब मैं ख़ुद वक़ालत छोड़ने को तैयार नहीं, तो असहयोग के प्रस्ताव पर अपना मत कैसे दे सकता था? मैंने अपने मन से पूछा! जब परदेशी कपड़े के व्यापारी को अपना व्यापार छोड़ना चाहिए लड़कों को स्कूल और कॉलेज छोड़ना चाहिए, उपाधिधारियों को उपाधि का त्याग करना चाहिए, ऐसा कहने वाले को अपना ख़ुद का पेशा वक़ालत, नहीं छोड़ना चाहिए? हरएक व्यक्ति के दूसरों को क्या करना चाहिए यह कहे, और अपनी बात को देखकर समर्थन और असमर्थन करे, इस बात में कितना औचित्य है यह समझकर ही मैंने १९२० के काँग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के असहयोग प्रस्ताव के वक्त उसके समर्थन में अपना मत नहीं दिया।

लेकिन सत्यतः उस प्रस्ताव से मैं बुद्धि-पूर्वक सहमत था, इसलिए मैंने उसके विरोध में भी अपना मत न दिया। इस तरह मैं उस बार तटस्थ रहा। मेरे स्वर्गीय मित्र श्री. मणिलाल कोठारी उस वक्त मेरे पासही बैठे थे, मुझे समर्थन न करते देख वे मुझपर बेहद नाराज हुए। उन्होंने वक़ालत छोड़ने का निश्चय कर लिया था, इसलिए उस वक्त उनके मत की क़ीमत थी—याने मैं मत दे रहा हूँ—ऐसा कुछ गर्व सा था। मेरे लिए तो उस परिस्थिति में सिवा माफ़ी माँगने के और कोई चारा ही न था।

कलकत्ता अधिवेशन समाप्त हो जाने के बाद सरदार (उस वक्त के श्रीयुत) वल्लभभाई पटेल ने यह सवाल अहमदाबाद म्युनिसिपालिटी में उपस्थित किया, या उन्हीं की सलाह से उपस्थित किया गया। उन दिनों वे म्युनिसिपालिटी में हमारी पार्टी के अध्यक्ष थे। मैं उलझन में पड़ गया। दो शिक्षकों ने भी नोटिस दे डाली कि अगर म्युनिसिपालिटी असहयोग नहीं करेगी तो वे इस्तीफ़ा दे देंगे। श्री. वल्लभभाई पटेल ने इस विषय में प्रस्ताव पेश किया कि उन दोनों के इस्तीफ़े मंजूर कर

लिए जाएँ। मैंने तब संशोधन पेश किया कि—'इस के बारे में हम अपने मतदाताओं को अवगत करा दें और उनका मत जान सकें इसलिए इस प्रस्ताव पर एक महीने के बाद विचार करें!'...संशोधन सर्व सम्मति से पास हो गया। अब सवाल यह था कि अगर मतदाता मेरी सम्मति में ही मत दें तो ठीक, नहीं तो सभासद्-पद (Membership) से इस्तीफ़ा देकर मतदाताओं के अनुकूल विचारवाले किसी नये सदस्य के लिए ज़गह खाली की जाय; मैंने यही निश्चय किया। मेरा अपना मत, म्युनिसिपालिटी के असहयोग करने के विरोध में था। मैंने, मतदाताओं के लिए, असहयोग के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह से एक वक्तव्य तैयार किया, और हरएक के नाम से वह वक्तव्य, जवाब के लिए फॉर्म (मत-पत्र) तथा मेरा नाम छपा हुआ दो पैसे का पोस्टल लिफ़ाफ़ा भेजने का निश्चय किया।

जब मैंने आपका वक्तव्य तैयार किया, उस वक्त सौभाग्य से गांधीजी अहमदाबाद में ही थे। मैंने अपना विरोधी अर्थात् गांधीजी वाला मत जो अपने वक्तव्य में भी व्यक्त किया था, ठीक ठीक लिखा गया है या नहीं, तथा जो मेरा अपना मत था, वह उनसे वादविवाद करने के बाद बदला जा सकता है या नहीं, यह देखने के लिए मैं अपने वक्तव्य का एक प्रूफ लेकर गांधीजी के पास गया। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मेरा वक्तव्य गुजराती भाषा में ही था। गांधीजी ने ध्यान पूर्वक उसे पूरा पढ़ डाला; उस वक्त का प्रसंग मैं यहाँ वार्तालाप के रूप ही उद्धृत करता हूँ; बातचीत का शब्द–शब्द तो याद नहीं है, लेकिन विषय तो अभी तक दिमाग़ को साफ़ साफ़ याद है।

गांधीजी ने कहा–'मावळंकर, तुमने यह बहुत लम्बा वक्तव्य लिखा है!'

'जी, बापू! सबों के समझने के लिए यह ज़रूरी था, और थोड़े से शब्दों में बड़ी बात कह डालने वाली लेखनकला मुझ में नहीं है!'

तब उन्होंने बताया कि वक्तव्य में उनका मत या विचार अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। उसके बाद उन्होंने मेरे मत की बुनियाद लेकर मुझसे वाद–विवाद करना शुरू किया। यह बातचीत करीब ४५ मिनट तक ज़ारी रही। सन् १९२० में भी गांधीजी पर आज ही की तरह बहुत से कार्यों का भार था, फिर भी वे मेरी चर्चा से ज़रा भी न ऊबे और खुले दिल से हँसते हुए बात करते रहे; जब म जवाब नहीं दे सका तो वे बोले—'क्यों, अब 'तुम्हारा' क्या मत है ?' मैंने कहा—'मैं तो शुरू में जहाँ था वहीं अब भी हूँ !' तब वे बोले....'मैं और भी बातचीत करने के लिए तैयार हूँ, लेकिन मालूम होता है, इस बैठक में मैं तुम्हें नहीं समझा सकूँगा; तो अब तुम क्या करोगे ?'

मैंने कहा—'बापू, मुझे सचमुच इस बात का दुख है कि मैंने यों ही आपका अमूल्य वक्त बर्बाद किया लेकिन मैं अभी भी आपके विचारों से सहमत नहीं हूँ ! लेकिन मेरे मन में आपके लिए आदर है; विचारों में हमारा मतभेद है फिर भी ऐसा लगता है कि संभव है, आपके बजाय मेरे विचारों में ही भूल हो ! इसलिए, जो भी म आपके विचारों से सहमत नहीं, फिर भी सहमत होने का विचार कर रहा हू !'

तब उन्होंने हँसते हँसते पूछा—'तो इससे सहमत हो इसलिए नहीं बल्कि मेरे लिए आदर ह इसीलिए मानते हो ?'

मैंनें कहा—'जी, यही बात है !'

सब उन्होंने गंभीर होकर जवाब दिया—'तो मेरे लिए आदर प्रकट करने का यह बहुत गलत तरीका है। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम जो भी कुछ अपना स्वतंत्र मत है उसे खुले मन से लोगों पर व्यक्त करो, जिसमें सत्य मालूम हो, वह भी कहो ! साथ ही साथ जहाँ मेरी

गलती नज़र आये, वहाँ मेरी भी आलोचना करो, जिससे मैं अपनी भूल समझ सकूं! मेरा आदर व्यक्त करने का तो यही सही तरीका है!'

मैंने कहा—'यह मुझे मुश्किल मालूम होता है!'

उन्होंने कहा—'मुश्किल नहीं मालूम होना चाहिए; तुम निश्चित और निर्भय रहकर अपना यही वक्तव्य छपा दो। तुमने अभी जो बातचीत की और विचार व्यक्त किये उसके अनुसार यह ठीक ही है; मेरे जो विचार लिये हैं, वे भी, दुरुस्त हैं; इस से दोनों विचार असली रूपमें मतदाता जान सकेगा!'

सचमुच उनकी इस बात से मुझे बहुत संतोष हुआ; मन पर जो एक बोझ था, वह उतर गया और इसीलिए मैं खुश भी हुआ। साथ ही साथ यह बात मन में चुभती रही कि मैं कैसा जड़ हूं जो गांधीजी के साथ पौन घंटे बात करने के बाद भी अपने को उनके विचारों के अनुकूल नहीं बना सका, याने समझा नहीं। उन्हें फिज़ूल तक़लीफ़ दी। खुशी और रंज़, इस तरह दोनों के साथ उस वक्त मैं बिदा लेकर वहाँ से निकला।

मैं दरवाजे पर भी न पहुँचा हूँगा कि गाँधीजी ने आवाज़ देकर मुझे वापस बुलाया, और कहा—'मावलंकर ज़रा अपना वक्तव्य दिखाना? मुझे लगता है कि मेरे विचारों के विरोध में, तुम्हारे विचारों के अनुकूल कुछ और बातें लिखी जा सकती हैं!' मैंने प्रूफ़ उनके हाथों में दे दिया। उन्होंने अपने विरुद्ध, मेरे विचारों के अनुकूल दो तीन मुद्दे उसमें जोड़ दिये। इस तरह वह संशोधित परिवर्धित वक्तव्य मैंने मतदाताओं के पास भेज दिया।

दूसरी कइ घटनाओंसे मेरे मन पर गहरा प्रभाव तो पड़ा ही था, लेकिन इस घटना ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया। यदि अपने पक्षका,

अपने मातहत कार्य करनेवाला कोई युवक, जिसे किसी बात का ख़ास अनुभव नहीं है, यदि किसी मान्य विषय पर वादविवाद करे तो सभी नेता उसे दबा देते हैं। लेकिन निरन्तर सत्य के प्रयोग करनेवाले इस 'महात्मा'ने, अपने अनुयायी को दबा देने के बदले ऐसा व्यवहार किया जो उसकी स्वतंत्रता को बढ़ाता! साथ ही साथ स्नेह की भी वर्षा की; यह सबक भी सिखाया कि निर्भयता से खुद को जो सत्य लगे, वह कह देना चाहिये; यह कितनी महानता है! गांधीजी को खुदगर्ज़ कहनेवाले और उनके अनुयायियों को अंधभक्त कहनेवालोंके लिए, इसी एक घटना का सबूत काफ़ी है!

अहमदाबाद : सितम्बर १९४५



बाधितानुवृत्ति *

• किशोरलाल घनश्यामदास मश्रूवाला •

गांधीजी की दिनचर्या में बाधितानुवृत्ति का एक बहुत बड़ा हिस्सा है। आश्रम से जेल के दरवाजे तक जाना उनका एक साधारण नियम सा था! घूमते वक्त लड़कों के साथ, कौन जल्द पहुँचता है, इसकी प्रतियोगिता होती थी; जो जेल के खम्बे को पहले हाथ से छू लेता वही जीतता था; इस तरह गांधीजीको खम्बे को छूने की आदत पड़ गई। फिर अगर किसी वक्त लड़के साथ न होते और किसी बड़े आदमी से बात करते हुए चलते तब भी खम्बे को हाथ लगाना न चूकते थे, यह उनका एक नियम सा हो गया। मेरा अन्दाज़ है यह नियम सन् १९३० के आन्दोलन तक जारी रहा था। उसके बाद उस रास्ते से जाना छूट गया, इसलिए वह आदत भी छूट गई।

लेकिन एक आदतके जाते ही दूसरी आदत पैदा हो जाती। वर्धा आने पर वे वर्तमान महिलाश्रम की जगह पर बसे थे; वहाँ खेतों में से होकर घूमने जाना होता था; वह रास्ता भी आज की तरह अच्छी हालत में न था; बरसाद के दिनों में चलना पड़ता था। रहने के मकान तक पक्की पगडंडी बनाने की ज़रूरत थी। वर्धा के खेत गुज़रात जैसे नहीं जो पचास हाथ तक खोदो तो एक कंकरी हाथ न आये! वहाँ तीन से छः इंच वाले बड़े बड़े पत्थर रास्ते में बुरी तरह बिखरे होते थे। तब गांधीजी ने घूमने जाते वक्त, हरएक साथी को, जिससे जितने

*कुछ दिन तक एक जैसा काम करते रहने से, उस क्रिया के करने की जो एक अकारण आदतसी हो जाती है उसे बाधितानुवृत्ति कहते हैं। शायद शुरू में कारण भी रहा हो लेकिन कुछ दिनों बाद अकारण भी वह प्रवृत्ति जारी रहती है। उदाहरण के तौर पर—मूछपर हाथ फिराना, पैर हिलाते रहना, बोलते वक्त हाथ से बिना सबब ही कुछ करते रहना, इत्यादि]

उठाये जायँ उतने पत्थर ढो लानेका नियम शुरू किया; वे खुद भी लानेवालों में से एक थे। मकान के पास गिट्टियों का एक छोटासा ढेर इकट्ठा हो गया; यद्यपि वह ठेर इतना बड़ा न था कि सारे आँगन में बिछा दिये जाते। मेरा ख़याल है उसके कुछ दिनों बाद श्रीयुत् जमनालालजी ने उन पत्थरों के बग़ैर ही उसे पक्का कराया होगा, लेकिन घूमकर लौटते वक्त पत्थर लाने की आदत बहुत दिनों तक जारी रही।

इसी तरह उन्हें, घूमने जाते वक्त छोटे बच्चों या औरतों को 'लाठी' (आसरा) बनाकर चलने की आदत है।

दूसरी एक ताज़ी आदत यह भी पैदा हुई है। जेल के डॉक्टरो की तरह, सुबह शाम बीमारों की खबर लेना और तलाश करना, यह घूमने से लौटते वक्त का उनका नित्यकर्म जैसा है। मेरे जेल से छूट कर आने के बाद, जो भी मैं, कमज़ोरी के कारण बिस्तर पर न होकर घर में रहता, उनके 'राउण्ड' में मेरा घर भी आ जाता था; यह मेरे घर वाला 'राउण्ड' बहुत दिनों तक ज़ारी रहा। सुबह-शाम दोनों वक्त मेरे घर के नीचेतक आकर जाना उनका एक नियम हो गया! उसके बाद तो मैं इस लायक हो गया कि पैदल जाकर उन से मिल आया करता था। उनके घूमने जाने के पांच मिनट पहले ही मैं और मेरी पत्नी उनसे मिल आते थे फिर भी मेरे घर तक आकर, उनके शब्दों में कहूँ तो—'खंभे को सलामी किये बग़ैर' उनसे न रहा जाता था। हमने उनसे कई बार कहा कि—'यहाँ तक आने की अब कोई ज़रूरत नहीं है!' लेकिन अगर भूल से किसी दिन दूसरे रास्ते पर निकल जाते तो याद आते ही लौटकर वे मेरे घर तक आते ही थे! इस क्रिया के पीछे उनकी हमारे प्रति अत्यंत प्रेम और ममता है उनकी सरल बालवृत्ति के अनुरूप। फिर भी इसमें एक तरह की बाधितानुवृत्ति भी है। उनकी यह आदत, कौन सी नई आदत लगने पर छूटेगी, कहा नहीं जा सकता!

आश्रम की प्रार्थना में भी 'बाधितानुवृत्ति' का काफ़ी हिस्सा है।

सत्याग्रह के शुरु के दिनों में, प्रार्थना के बाद रोज़ एक तामिल भजन बोलने का रिवाज़ था; चार या पाँच पंक्तियों का वह भजन था! रोज़ उसकी एक पंक्ति बोली जाती और पुनः पहले से ही वह शुरू किया जाता था। हरएक पंक्ति का आखिरी शब्द 'अच्चेवो' था; इस शब्द के आते ही समझना चाहिए कि पंक्ति समाप्त हुई। बहुत दिनों तक यही क्रम देखते रहने के बाद एक दिन मैंने गांधीजी की गैरहाज़िरी में श्री० मगनलाल से इस भजन का अर्थ कहने का निवेदन किया। वे इस भजन का अर्थ न जानते थे, और उनके अलावा जितने व्यक्ति प्रार्थना में इस भजन के वक्त मौजूद रहते थे उनमें से किसी को भी उसका मतलब न आता था। कोई यह भी नही जानता था कि यह एक ही भजन है या अलग अलग। मेरा ख़याल था, क़रीब क़रीब सबों का, कि वे सब अलग अलग भजन हैं। लेकिन यह एक ही भजन है, यह बात मुझे तब मालूम हुई जब मैं ६–७ वर्ष बाद तामिलनाढ गया, और राजाजी के तिरुचेंगोडु के आश्रम में यही भजन सुननेपर उनसे पूछा। यह भी मालूम हुआ कि यह एक 'शिवस्तोत्र' है। लेकिन आश्रम में कोई भी नहीं जानता था कि यह क्या है। तब मैंने श्री० मगनलाल से कहा कि जब तक हम इसका अर्थ न जान लें, तब तक इसे बन्द क्यों न रखें?

उन्होंने मेरी सलाह मान ली, और तब कहीं जाकर वह भजन बन्द हुआ! मेरा ख्याल है दक्षिण-आफ्रिका के आश्रम में किसी तामिल भाई के उत्साह से यह भजन शुरू हुआ होगा, और सबोंको कंठस्थ हो जाने पर यह जारी रहा होगा, अथवा गांधीजी ने उनकी स्मृतिमें ज़ारी रखा होगा!

सेवाग्राम की प्रार्थना में भी ऐसी कई बातें सम्मिलित हो गई हैं। सब जानते हैं कि एक जापानी साधु कुछ दिनों यहाँ रहे थे। वे ढोल

बजाकर, ऊँची आवाज़से, खेतों और रास्ते पर ‘नमो रेंगे क्यों...’ इस जापानी भाषा के बौद्धमंत्र का जप करते थे। वे आश्रम की, सुबह और शाम की प्रार्थना के पहले इस मंत्र का जप करके प्रणाम करते थे; उसके बाद नियमित प्रार्थना प्रारंभ होती थी; उसका सही अर्थ क्या है, यह अभी भी शंका का विषय है। जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा होते ही, जापानी होने के कारण पुलिस उन्हें गिरफ्तार करके ले गई। वह दृष्य बहुत कारुणिक था। गांधीजी भी उन्हें बिदा देते वक्त भावाविष्ट हो गये थे! आश्रम में उन जैसा साधुचरित, सात्विक वृत्ति वाला व्यक्ति दूसरा न था। गांधीजी ने बिदा के वक्त आश्वासन सा दिया कि उनके जाने के बाद भी प्रार्थना के साथ उनके मंत्र का जप भी ज़ारी रहेगा। एक भाईने झट उसके सुर और ताल याद कर लिये; और अब वह मंत्र आश्रम की ‘अज़ान’ बन गया है। साथ ही साथ अब वहाँ सर्वधर्मसमभाव को प्रश्रय होने के कारण, संभव है वह आश्रम प्रार्थना के साथ सदा के लिए रह जाय। इसी सिद्धान्त के अनुसार, गांधीजीने श्री० रेहानाबहन तैयबजी के द्वारा कुरान की पहली आयत का पाठ शुरू कराया। उसके बाद आगाखाँ महल में डॉ. गिल्डर ने ‘ज़ंद अवस्ता’ (पारसी-धर्म का पवित्र ग्रंथ) में से एक पाठ सिखाया, वह भी शुरू हो गया; बहुत से उस पाठ में शामिल होते हैं। उनमें से कितने समझते होंगे यह कहना मुश्किल है!

गांधीजी के सम्पर्क में आन वाले किसी भी व्यक्तिको यह जान कर बहुत आश्चर्य होता होंगा कि उनके वहा कागज़ का उपयोग करने में बहुत मितव्ययिता से काम लिया जाता है, शायद वे लोग नाराज़ भी होते हों। साधारणतया गांधीजी डाक तो कोरे कागज़ पर, एक तरफ़ स्याही से लिखकर ही भेजते हैं, लेकिन मौन के वक्त चिट्ठियों लिखने या अखबारों के किए वक्तव्य लिखने के लिए वे एक तरफ़ लिखे, दूसरी तरफ

कोरे, कागज़ का ही उपयोग करते हैं, आग्रह-पूर्वक। कई बार, विशेष प्रसंगों पर वे उदार की तरह खर्च करते हैं, लेकिन कई ऐसी सूक्ष्म बातें हैं जिसमें कंजूस की तरह बचत भी करते हैं। सच तो यह है कि जहाँ तक किसी चीज़ का पूरा पूरा उपयोग नहीं कर लिया जाता, उनका जी उसे फेंक देने को नहीं होता। लिफ़ाफ़े का भीतरी हिस्सा 'कोरा' होता है, उसे पलटकर, फिर से उसका लिफ़ाफ़े का उपयोग करना, यह 'रिवाज़' वहाँ कई दिनों तक ज़ारी रहा। तब तक किसी ने उनका ध्यान आकर्षित किया कि ऐसे लिफ़ाफ़े पर भी छः पैसे का टिकट लगाना होता है, और सरकार भी छः ही पैसों में बना बनाया लिफ़ाफ़ा देती है, फिर फिजूल लिफ़ाफ़ा बनाने की मेहनत क्यों करें? यह बात इस तरह तो उनके गले न उतरी, जिसका खास कारण यह था कि यह मज़दूरी वे उन लोगों से कराते थे जो कुछ न करके सिर्फ़ उनका मुँह देखते रहते हैं; इसलिए वहाँ मज़दूरी की क़ीमत न थी, उन्हें उद्यमी बनाने का एक उपाय था! तब कुछ दिनों बाद एक भाई ने गूंद-खर्च की बात निकाली। तब गांधीजीने निश्चय किया कि ऐसे लिफ़ाफ़ों का उपयोग, डाक से भेजे जाने वाले पत्रों के लिए न किया जाकर हाथों से इधर उधर भेजे जाने वाले पत्रों के लिए किया जाए। लिफ़ाफ़ों का ऐसा उपयोग बहुत दिनों तक ज़ारी रहा। इन दिनों लिफ़ाफ़ों का उपयोग छोटी छोटी चिट्ठियों और लेख वगैरह लिखने में किया जाता है, अर्थात् उसके पीछे का कोरा हिस्सा निकाल कर, उसे कोरे कागज़ की तरह काम में लाया जाता है!

ऐसे 'पीठ कोरे' कागज़ों का 'पॅड' गांधीजी के लिए तैयार करना, यह भी उनके दफ्तर का एक काम है। ऐसे पॅड एक तरफ़ लिखे हुए बहुत बढ़िया कागज़ों के भी हो सकते हैं क्यों कि पत्र, प्रश्न या लेख वगैरह भेजने वाले बहुत से ऐसे उदार व्यक्ति भी हैं जो बढ़िया से बढ़िया कागज़ों का उपयोग करते हैं, लेकिन ऐसे बढ़िया कागज़ों का

उपयोग गांधीजी नहीं, उनके मंत्रीगण कर डालते हैं। गांधीजी तो ऐसे ही कागज़ों पर लिखते हैं, जो हलके और पतले हों और जिसकी स्याही दूसरी तरफ फूट न निकले !

यह आदत उनके पास से तो नहीं, लेकिन मुझमें भी आ ही गई है। शायद अतिलोभी पूर्वजों का खून ही इस बातका जवाबदार होगा !

सेवाग्राम; २४–७–४५



मिट्टी में से आदमी !

● नरहरि द्वारकादास परीख ●

(१) सत्याग्रहाश्रम में, राष्ट्रीय पाठशाला की स्थापना सन् १९१७ की ७ वीं मई को बोधि-जयंती (वैशाख शुक्ल १५) के दिन हुई थी; उसी दिन से मैं भी उसमें शामिल हुआ था। इस बात के पहले भी मैं और महादेव भाई महात्माजी के निकट सम्पर्क में आये थे। इन्हीं दिनों सन् १७ की १९ वीं फरवरी को अहमदाबाद में गोखले की पुण्यतिथि मनाई गई; उस अवसर पर गांधीजी ने वहाँ के 'प्रेमाभाई-हॉल' में भाषण करते हुए कहा कि-'हम लोग गोखले जैसे महापुरुष की पुण्यतिथि सिर्फ़ भाषण देकर ही मनालें, यह ठीक नहीं है; हमें उनके भाषणों और लेखों का गुजराती में तर्जुमा करना चाहिए; अगर कोई यह तैयार करने का ज़िम्मा ले तो उसे छपाने का सब इंतिज़ाम मैं करूँगा!' तब मैंने यह काम महादेव भाई की मदद से करने की इच्छा दिखाई और नमूने के तौर पर गोखलेजी के एक भाषण का गुजराती अनुवाद करके मैंने गांधीजी को दिखाया और उन्होंने उसे जाँचने के लिए स्व० आनन्दशंकर ध्रुव के पास भेज दिया। स्व० आनन्दशंकरजी के 'पास' करने पर गांधीजी ने यह काम मुझे सौंपा। ऐसा निश्चित हुआ कि इस विषय में मदद चाहे जो व्यक्ति करे, उसके सम्पादन का अंतिम कार्य मेरे ही ज़िम्मे रहेगा! एक सज्जनने, जो लेखक के रूप में काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, शिक्षा-विषयक निबन्धों और भाषणों का अनुवाद करने की इच्छा गांधीजी के सामने व्यक्त की। तब गांधीजीने वह काम उन्हें सौंप देने के लिए मुझसे कहा। हमारी इच्छा थी कि गोखलेजी की आगामी पुण्यतिथि तक कम से कम एक किताब तो प्रकाशित हो ही जानी चाहिए, गांधीजी का भी यही आग्रह था। महादेवजी और मैंने भी अपना अपना काम करने के लिए बाँट

लिया था। उन सज्जन ने अपना काम ज़ल्द ही समाप्त करके मेरे पास भेज दिया; तब तक मैं आश्रम की पाठशाला में शामिल हो चुका था। भाषा की दृष्टि से मुझे उनका लेखन कुछ जँचा नहीं। लेकिन कहाँ मैं पच्चीस साल का युवक, और कहाँ वे मुझसे बीस साल बड़े!...और फिर एक प्रौढ़ लेखक के रूप में जनता में उनका सम्मान था। साथ ही साथ हमारी पाठशाला के कई शिक्षकों ने भी उनकी शैली की तारीफ़ की; कहा—'भाषा बहुत सरल है...' तब मेरी कुछ कहने की हिम्मत न हुई।

ये सब किताब बम्बई में छापने को थीं और प्रूफ़संशोधन और दूसरी देखरेख का काम भाई मथुरादास त्रिकमजी को सौंपा गया था। इसलिए महात्माजी की आज्ञानुसार मैंने वह हस्त-लिपि मथुरादासजी के पास भेज दी। उसके बाद मुझे महात्माजी के साथ चंपारन जाना पड़ा। सन् १० के दिसम्बर का महीना था। वह किताब क़रीब क़रीब पूरी छप चुकी थी; इसलिए मैंने उसके 'फ़ॉर्म' गांधीजी को देकर कहा—'आपही इसकी भूमिका लिख दीजिए!'

दूसरे ही दिन उन्होंने मुझे बुला कर कहा—'नरहरि, यह भाषा तो बिलकुल नहीं चल सकती!...ऐसी 'तर्जुमी' भाषा कौन समझेगा?...तुमने इसे 'पास' 'कैसे किया?'

तब मैंने, पहले पहल पढ़ते वक्त जो बात मुझे जँची थी वह, और पाठशाला के अन्य शिक्षकों की तारीफ़—दोनों बातें उनसे कहीं; और यह भी बताया कि 'यही कारण था जिससे मैं अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त नहीं कर सका!'

उन्होंने मुझसे कहा—'लॉर्ड विलिंग्टन ने (बंबई के तत्कालीन गवर्नर) बंबई युनिव्हर्सिटी के गत उपाधि-वितरण के वक्त अपने भाषणमें कहा था कि—'हिन्दुस्तान के ग्रेज्युएटों में 'नहीं' कहने की

हिम्मत नहीं है...यही सच है न ? मैं तो तुमसे यही आशा करता हूँ कि अगर यह तजुर्मा तुम्हें न जँचे तो साफ़ 'नहीं' कह दो—'मैंने तुम्हें जो सम्पादक का काम सौंपा था वह कर्त्तव्य तुमने पूरी तरह नहीं निबाहा !'

मैं सचमुच घबरा गया। वे बोले—'अच्छा, पूरी किताब छप गई है ?' मैंने कहा—'हाँ !' 'तो भी हमें इसे रद्द तो करनी ही होगी।'

मैंने कहा—'लेकिन पूरी किताब तैयार हो गई है; अब तक क़रीब सात सौ रुपये ख़र्च हो गये होंगे...क्या इतना ख़र्च बेकार जाने दें ?'

तब उन्होंने मुझसे पूछा—'तो क्या जिल्द वग़ैरह बँधवाकर इसके लिए ज्यादा पैसे बिगाड़ने हैं ?'

मैं अवाक् रह गया। वे फिर बोले—'सात सौ क्या, अगर सात हज़ार रुपये भी व्यर्थ जाएँगे तो मैं जाने दूँगा...मैं पाई पाई की गिनती करता हूँ लेकिन वक्त आने पर बड़े से बड़े खर्च की भी पर्वाह नहीं करता; क्या इतने पैसे खर्च किये हैं इसी लिये ऐसी किताब जनता के आगे रखी जाय ? इससे तो दुगुना ख़र्च होगा ! मुझे पैसे का दुःख नहीं है; गोखलेजी की पुण्यतिथि पर किताब प्रकाशित करने की चिंता है; उसे अब दो ही महीने रहे हैं।'

उस वक्त महादेव भाई भी मेरे ही पास बैठ थे। हम दोनों की ओर देखकर महात्माजी ने पूछा—'तुम लोगों ने कुछ तैयार किया है ?' हम दोनों ने कहा—'पहले हमें जो काम सौंपने का निश्चय हुआ था, वे दोनों हिस्से तैयार हैं।' उन्होंने कहा—'ले आओ, अब तो मुझे तुम्हारे हिस्से भी देख डालने होंगे।'

हम दोनों ने अपनी प्रति काँपते हाथों से उन्हें सौंप दी।

उस दिन और सारी रात मैं काफ़ी उद्विग्न रहा; गलती मुझ अकेले की ही थी, लेकिन मेरे साथ भाई महादेव भी दुःखी थे। वे बोले–'ऐसा बेकार अनुवाद तुम्हें पहले ही फेंक देना था।' साथ ही साथ हमें यह भी चिंता थी कि महात्माजी को हमारे अनुवाद कैसे लगेंगे? दूसरे दिन हमें बुलाकर गांधीजी ने कहा—'तुम दोनों के तर्जुमे काम आ सकते हैं...आज ही उन्हें मथुरादास के पास भेज दो, और लिखो कि ये दोनों पुस्तकें १९ फरवरी के पहले छप जायँ तो ठीक हो; अगर दोनों न हों तो कम से कम एक को तो १९ फरवरी तक प्रकाशित कर ही देना होगा।'

अनुवाद की परीक्षा में से किसी तरह निकला, तो कुछ तसल्ली हुई। लेकिन मेरी जिस भूल से सात सौ रुपयों पर पानी फिर गया के वह मुझे बार बार चुभती थी वह मानसिक वेदना एक दिन और एक रात में मेरे लिए असहनीय हो गई थी। आख़िर दूसरे दिन शाम को मैंने अपना राजीनामा (इस्तीफ़ा) लिखकर गांधीजी को दे दिया, जिसमें लिखा था कि 'आपने मेरे लिए जो सोचा था वैसा मैं नहीं हूँ, इसलिए मेरे लिये आपके साथ रहना ठीक नहीं है; यह भी मुझसे सहा नहीं जा सकता कि मेरे लिए देश के पैसे फ़िजूल बर्बाद हों। ये कारण हैं कि मैं आपसे क्षमा माँगने को बाध्य हुआ हूँ। मैं अहमदाबाद जाकर, छपवाने में जो भी कुछ ख़र्च हुआ है, वह भर दूँगा!'

इस्तीफ़ा पढ़कर गांधीजी ने मुझसे पूछा...'तुम्हारे पास बहुत ज्यादा पैसे हैं?'

मैंने कहा—'ज्यादा नहीं, पर कम भी नहीं हूँ, कैसे भी हो, मैं भर दूँगा...अहमदाबाद जाकर ही कुछ कर सकूँगा!'

उन्होंने पूछा—'क्या फिर से वकालत करने जा रहे हो?

मैंने कहा—' नहीं, वकालत तो नहीं करूँगा; उसमें मुझे रस नहीं रहा, दूसरा कोई काम करूँगा; क्या करूँगा यह अभी तक सोचा नहीं है।'

कुछ देर बाद उन्होंने मेरे इस्तीफ़े का कागज़ फाड़ डाला और कहा—' पागल न बनो; तुम्हारे हाथों से सात सौ क्या, सात हजार रुपये का भी नुकसान हो जाय, तो क्या मैं तुम्हें छोड़ दूँगा ? ऐसा करूंगा, तो मेरा काम कैसे चलेगा ?'

मैंने कहा—' लेकिन गुजराती भाषा के ज्ञान के बारेमें आपने मेरे लिए जो आशा रखी थी, वह भी तो मुझमें नहीं !'...वे बोले—' यह तो मैं जानता हूँ कि तुम केशवलाल ध्रुव और आनन्दशंकर जी जैसे विद्वान नहीं हो, पर मेरे पास वे लोग थोड़े ही आएँगे ? मुझे गुजराती भाषा में बहुत कुछ करना है इसलिए मेरे लिए तुम और महादेव ही विद्वान हो ! तुम्हारा मतलब यह तो नहीं है कि तुममें दूसरे विद्वानों की अपेक्षा साहित्य-प्रेम या प्रयास की भावना कम है ?'

(२) सन् १९१७ में कलकत्ता में कांग्रेस–अधिवेशन हुआ था; अधिवेशन के साथ ही ' सोशियल सर्विस लीग ' की बैठक भी हुई, जिसके अध्यक्ष गांधीजी थे। उनका अध्यक्ष-पद का भाषण अंग्रेजी में लिखा गया था; और कलकत्ते में भाषण अंग्रेजी में ही देने का उनका विचार था। लेकिन अंग्रेजी अखबारों के साथ साथ गुजराती अखबारों में भी अनुवादित होकर यह भाषण छप जाता। अखबार वाले जल्दी जल्दी में कामचलाऊ अनुवाद न छाप दें, इसकी गांधीजी की चिंता थी; वे चाहते थे कि गुजराती में उनका जो भाषण छपे उसकी भाषा सुंदर और प्रांजल हो। उन्होंने भाषण के गुजराती अनुवाद का काम मुझे सौंपा। पहले की वह घटना याद आते ही मैं कुछ घबराया। तब मैंने सावधानी के साथ अपने ज्ञान की पूरी सामर्थ्य से अनुवाद करके गांधीजी को दिया।

उस दिन और सारी रात मैं काफ़ी उद्विग्न रहा; गलती मुझ अकेले की ही थी, लेकिन मेरे साथ भाई महादेव भी दुःखी थे। वे बोले–'ऐसा बेकार अनुवाद तुम्हें पहले ही फेंक देना था।' साथ ही साथ हमें यह भी चिंता थी कि महात्माजी को हमारे अनुवाद कैसे लगेंगे ? दूसरे दिन हमें बुलाकर गांधीजी ने कहा—'तुम दोनों के तर्जुमे काम आ सकते हैं...आज ही उन्हें मथुरादास के पास भेज दो, और लिखो कि ये दोनों पुस्तकें १९ फरवरी के पहले छप जायँ तो ठीक हो; अगर दोनों न हों तो कम से कम एक को तो १९ फरवरी तक प्रकाशित कर ही देना होगा।'

अनुवाद की परीक्षा में से किसी तरह निकला, तो कुछ तसल्ली हुई। लेकिन मेरी जिस भूल से सात सौ रुपयों पर पानी फिर गया के वह मुझे बार बार चुभती थी वह मानसिक वेदना एक दिन और एक रात में मेरे लिए असहनीय हो गई थी। आख़िर दूसरे दिन शाम को मैंने अपना राजीनामा (इस्तीफ़ा) लिखकर गांधीजी को दे दिया, जिसमें लिखा था कि 'आपने मेरे लिए जो सोचा था वैसा मैं नहीं हूँ, इसलिए मेरे लिये आपके साथ रहना ठीक नहीं है; यह भी मुझसे सहा नहीं जा सकता कि मेरे लिए देश के पैसे फ़िज़ूल बर्बाद हों। ये कारण हैं कि मैं आपसे क्षमा माँगने को बाध्य हुआ हूँ। मैं अहमदाबाद जाकर, छपवाने में जो भी कुछ ख़र्च हुआ है, वह भर दूँगा!'

इस्तीफ़ा पढ़कर गांधीजी ने मुझसे पूछा...'तुम्हारे पास बहुत ज्यादा पैसे हैं ?'

मैंने कहा—'ज्यादा नहीं, पर कम भी नहीं हूँ, कैसे भी हो, मैं भर दूँगा...अहमदाबाद जाकर ही कुछ कर सकूँगा!'

उन्होंने पूछा—'क्या फिर से वकालत करने जा रहे हो ?

मैंने कहा—'नहीं, वकालत तो नहीं करूँगा; उसमें मुझे रस नहीं रहा, दूसरा कोई काम करूँगा; क्या करूँगा यह अभी तक सोचा नहीं है।'

कुछ देर बाद उन्होंने मेरे इस्तीफ़े का कागज़ फाड़ डाला और कहा—'पागल न बनो; तुम्हारे हाथों से सात सौ क्या, सात हजार रुपये का भी नुकसान हो जाय, तो क्या मैं तुम्हें छोड़ दूँगा? ऐसा करूंगा, तो मेरा काम कैसे चलेगा?'

मैंने कहा—'लेकिन गुजराती भाषा के ज्ञान के बारेमें आपने मेरे लिए जो आशा रखी थी, वह भी तो मुझमें नहीं!'...वे बोले—'यह तो मैं जानता हूँ कि तुम केशवलाल ध्रुव और आनन्दशंकर जी जैसे विद्वान नहीं हो, पर मेरे पास वे लोग थोड़े ही आएँगे! मुझे गुजराती भाषा में बहुत कुछ करना है इसलिए मेरे लिए तुम और महादेव ही विद्वान हो! तुम्हारा मतलब यह तो नहीं है कि तुममें दूसरे विद्वानों की अपेक्षा साहित्य-प्रेम या प्रयास की भावना कम है?'

(२) सन् १९१७ में कलकत्ता में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ था; अधिवेशन के साथ ही 'सोशियल सर्व्हिस लीग' की बैठक भी हुई, जिसके अध्यक्ष गांधीजी थे। उनका अध्यक्ष-पद का भाषण अंग्रेजी में लिखा गया था; और कलकत्ते में भाषण अंग्रेजी में ही देने का उनका विचार था। लेकिन अंग्रेजी अखबारों के साथ साथ गुजराती अखबारों में भी अनुवादित होकर यह भाषण छप जाता। अख़बार वाले जल्दी जल्दी में कामचलाऊ अनुवाद न छाप दें, इसकी गांधीजी की चिंता थी; वे चाहते थे कि गुजराती में उनका जो भाषण छपे उसकी भाषा सुंदर और प्रांजल हो। उन्होंने भाषण के गुजराती अनुवाद का काम मुझे सौंपा। पहले की वह घटना याद आते ही मैं कुछ घबराया। तब मैंने सावधानी के साथ अपने ज्ञान की पूरी सामर्थ्य से अनुवाद करके गांधीजी को दिया।

उन्होंने पढ़कर मुझे बुलाया और शिक्षक जैसे बालक को सिखाता है उस तरह पास बैठाकर मेरे सामने भूलें सुधारीं, और मुझे बताया। पूरे दो घंटे सुधारने में ही लग गये, लेकिन वे उठे नहीं, मुझे उन दो घंटों में उन्होंने जैसे लोकप्रिय अनुवाद का रहस्य बता दिया और वह रहस्य मेरी ज़िंदगी भर के लिए काफ़ी था!

(३) जिन दिनों आश्रम में हम लोगोंने 'राष्ट्रीय-पाठशाला की स्थापना की उन दिनों गांधीजी चंपारन में थे; स्थापना के क़रीब एक महीने बाद वे आश्रम में आये। उस वक्त उन्होंने पाठशाला के शिक्षकों के साथ, राष्ट्रीय शिक्षण की अपनी बनाई योजना के बारे में तो बातें की हीं, साथ ही साथ कितनी ही आंतरिक बातें (आश्रम-संबंधी) भी कीं, उस वक्त सचमुच ऐसा मालूम होता था, जैसे कुनबे का कोई बड़ाबूढ़ा, कुटुम्ब के बच्चोंको धीरता से कुछ समझा रहा हो; वे बोले—

'तुम सब लोग मेरे साथ रह रहे हो, और तुमने अपने निर्वाह के लिए 'अमुक' रक़म लेना निश्चित किया है। तुमने जो रक़म निश्चित की है वह तो ठीक है। लेकिन एक बात तुम्हें समझ लेना चाहिए मेरे साथ रहकर ऐसा वक्त भी आ सकता है; कि मैं तुम्हें निश्चित की हुई रक़म न दे सकूँ, क्योंकि मैं ठहरा सत्याग्रही! और सत्याग्रही का मतलब 'विद्रोही' भी समझा जाता है। सिर्फ़ राज्य से ही विद्रोह करना मेरा ध्येय नहीं, समय आने पर मैं समाज से भी द्रोह कर सकता हूँ। उस वक्त यह भी हो सकता है कि हमारे फ़िलहाल के मित्रगण मदद न भी करें। यही नहीं, यहाँ तक कि लोग हम पर पत्थर मारें और थूकने को भी तैयार हो जायँ! ऐसा होने पर भी मुझे जो बात सच लगी उसे मैं नहीं छोड़ सकता। अगर मित्रगण मदद न करें तो मेहनत–मज़दूरी करके निर्वाह करने का वक्त आ सकता है। उस वक्त अगर तुम लोग भी मेरे साथ मजदूरी करने के लिए तैयार हो

जाओ, तो जो मिले उसमें से हम सब बाँट कर खाएँ। लेकिन अगर उस वक्त तुम मुझे छोड़कर चले जाओ तो मैं तुम्हारा दोष नहीं निकालूँगा; मेरा मन भी तुम्हारी आलोचना नहीं करेगा। हाँ, अगर ऐसा प्रसंग काफ़ी वक्त बीत जाने के बाद आये, और तुम जाकर यह कहो कि—" इस आदमी के साथ जाने में हमारे इतने वर्ष बिगड़े और हम पिछड़ गये—' तो मेरा मन जरूर तुम्हारी आलोचना करेगा। इसलिए एक बात तुम्हें ठीक ठीक समझ लेना ज़रूरी है। निर्वाह के लिए तुम लोगों ने जो रक़म लेने का निश्चय किया है; मैं वह तुम्हें देने की कोशिश करूँगा, लेकिन इससे यह न समझ लेना कि मैं तुम्हें हमेशा दे ही सकूँगा। इस वक्त हमारे पास कुछ रक़म बैंक में जमा है; इसके अलावा, मुझे आफ्रिका से आते वक्त जो रक़म भेंट में मिली वह क़रीब बीस हज़ार के है। हमारा माहवार ख़र्च पन्द्रह सौ रुपये के क़रीब है; इसलिए यह रक़म कुछ ही दिनों में ख़त्म हो जाएगी। उसके बाद अगर किसी तरफ़ से कुछ मदद न मिली तो तुम मेरे साथ मजदूरी कर सकते हो या तुम जो चाहो, रास्ता आख्तियार कर सकते हो; मैं तो यही समझता हूँ कि वक्त आने पर तुम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हो, इसलिए मुझे छोड़कर चले जाने के बाद भी समाज में तुम्हारी क़ीमत रहेगी ही। इस वक्त तुम लोग जो कुछ यहाँ ले रहे हो, बाहर तुम्हें हर हालत में ज्यादा ही मिलेगा। फिर भी मेरी बात समझ लेना ठीक है, क्योंकि तुम लोग एक विद्रोही के साथ आगे क़दम बढ़ा रहे हो।'

उसके बाद हम सबों की पत्नियों को बुलाया; उनके नामधाम पूछकर, मीठा विनोद किया; तब पूछा कि—' तुम सब अपने पतियों के पीछे यों ही ज़बर्दस्ती आई हो या सोच समझकर? अगर तुम्हें यहाँ आश्रम में रहना न सुहाता हो, और सिर्फ़ पति के लिए रही हो तो मुझसे कह

देना; मैं तुम्हारे पति को छुट्टी दे दूँगा, और कहूँगा कि 'पहले अपनी पत्नी को समझाकर खुश करो, तब यहां आओ, इसके बगैर मैं तुम्हें अपने में शामिल नहीं करूंगा।' जो भी मैं तो यही चाहता हूं कि तुम इस आश्रम को ही अपना घर समझो यहां तक कि, तुम्हारे पति भी अगर जाने की कहें तो तुम कह दो कि—'तुम्हें जहां जाना हो, वहां चले जाओ, मेरा घर तो यह आश्रम ही है।'

'मेरे लिए, एक दूसरी बात भी तुम्हें जान लेनी चाहिए; मैं तो लड़नेवाला हूँ; सरकार से भी लड़ता हूँ और लोगों से भी वक्त आने पर लड़ सकता हूँ। और मेरा लड़ने का तरीक़ा जानती हो? मामूली लड़ाई में तो दुश्मन या विरोधियों को मारना होता है, जिससे उनकी औरतें विधवा हो जाती हैं। मेरी लड़ाईमें दुश्मन या विरोधी कोई नहीं है। किसीको मारना नहीं है, बल्कि खुद मरना है, जिससे हमारे पक्ष की स्त्रियोंको विधवा हो जाने का अशुभ अवसर भी आ सकता है; यही मेरा तरीक़ा है। इस तरह झट झट मर जाना सहल नहीं है; लेकिन मेरे साथ रहने पर जेल को तो तक़दीर में लिखी हुई ही समझना! सिर्फ़ तुम्हारे पति ही जेल में चले जायँ ऐसा नहीं, मैं तुम्हें भी जेल में भेजूँगा। यह सब बात समझकर 'हाँ' कहना। मेरी यह बात तुम्हें न सुहाई हो तो यहाँ न रहना, अपने पति को लेकर यहाँ से चली जाना! और ये लोग इन्कार करेंगे तो मैं इन्हें तुम्हारे साथ भेज दूँगा।

(४) एक प्रसंग स्व० महादेव देसाई का है। सन् १९१७ में वे शुरू शुरू में ही, चंपारन में गांधीजी के पास आये थे। गांधीजी ने उन्हें वहाँ एक बार रोटी बनाने के लिए कहा; महादेव भाई इन्कार न कर सके। उस दिन प्रसंगवश महादेव भाई का जन्मदिन भी था। एक ओर तो वर्षगांठ के दिन अपने हाथ से बनी रोटी खिलाने का

सौभाग्य और दूसरी ओर रोटी बनाना नहीं आती इसकी दुविधा ! वे अपनी ज़िन्दगी में कभी चूल्हे के सामने नहीं बैठे थे। इसलिए आँखो से आँसू की धारा बह चलीं, जिसमें से कुछ आँसू आटे में भी मिल गये होंगे। यकायक गांधीजी ने आकर उनकी यह हालत देखी, और कहा—'अरे...चलो, मैं तुम्हें रोटी बनाना सिखाता हूँ !' कहकर वे नहा आये और रोटी बनाने के लिए, गीले आटे की गोली से लेकर रोटी सेंकने तक की सब क्रिया करके बताई। (यही नहीं, गांधीजी ने उन्हें मूंग की दाल कैसे धोई जाती है; लिफाफ़े पर टिकिट ठीक ठीक कैसे चिपकाई जा सकती है, वग़ैरे बहुत सी बातें सिखाई।)

इसके बाद महादेव भाई ने दुर्गाबहन को एक पत्र लिखा, जिसमें बताया कि 'खाना बनाना उन्हीं के सिर आ पड़ा है।' साथ ही यह भी पूछा कि दाल और तरकारी में कितना और कौन सा मसाला डालना चाहिए। लेकिन उसके जवाब में खुद दुर्गाबहन ही वहाँ आ पहुँची। लेकिन उसके बाद धीरे धीरे वे रोटी बनाने में पारंगत हो गये। जो रोटी फूलकर गेंद जैसा गोल जाती है, और जिस पर एक भी काला दाग़ नहीं होता उसे हमारे आश्रम में 'चाइना सिल्क' कहकर पुकारा जाता है। महादेव भाई को ऐसी 'चाइना सिल्क' का बहुत शौक था। अपने हाथों 'चाइना-सिल्क' बनाने में वे काफ़ी सिद्धहस्त थे !

(५) यह आखिरी घटना भाई चन्द्रशंकर के उलाहने की है। सन् १९२६ में चन्द्रशंकर, आश्रम की पाठशाला में पढ़ाते थे साथ ही साथ काकासाहेब कालेलकर के सेक्रेटरी का काम भी करते थे। एक दिन उन्हें एक फ़ाइल लेकर, किसी कार्यवश गांधीजी के पास जाना पढ़ा। इस वक्त संयोगवश महादेव देसाई और मैं वहीं मौजूद थे। फ़ाइल उस डोरी से बँधी थी, जिसके दोनों ओर लोहे की नोक थी; उसे देखकर

गांधीजी ने कहा—'हमें ऐसी डोरी बाँधने की क्या ज़रूरत है; यह तो बूट बाँधने के बन्द जैसी है; हमें तो हाथों काती हुई सूत की डोरी काम में लाना चाहिए!' उसी वक्त चन्द्रशंकर ने जवाब दे दिया—'मुझे सूतकी डोरी गूँथना नहीं आता!' सुनते ही गांधीजी ने आँखों में खीझ और क्रोध भर कर कहा, जिसमें शिक्षा की अधिक मात्रा थी—'मेरे हाथ में तुम्हारा इस्तीफ़ा दे दो; और यहाँ मेरे पास सीखने बैंठ जाओ; मैं इसी वक्त तुम्हें गूँथना सिखा देता हूँ!' चन्द्रशेखर अपनी ग़लती पर पछताये और उसी वक्त डोरी बदलने का वचन दिया।

सेवाग्राम—२४-७-४५.



दो घटनाएँ

• गोकुलदास द्वा. रायचुरा •

'रायचुरा, आज शाम को आना और देखना हमारा गांधी तेरी बिसेंट की कैसी ख़बर लेता है!'

जिन दिनों मैं बम्बई के शेअर-बाजार में काम करता था, मेरे एक मित्र जो 'हिन्दुस्तान-प्रजामित्र' (गुजराती) का संपादन करते थे, जल्दी जल्दी आये और एम्पायर थिएटर में होने वाली सभा में, जो शाम को होने वाली थी, आने का आग्रह किया!

सन् १९१९ का ज़माना था। उस दिन बम्बई में श्रीमती बिसेंट की सालगिरह मनाई गई थी, और उसी के उपलक्ष में वह सभा आयोजित हुई थी। यह सुनकर कि सभापति गांधीजी होंगे, थिएटर ठसाठस भर चुका था। उन दिनों गांधीजी और श्रीमती बॅसेंट में तीव्र-मतभेद चल रहा था। मैं थियॉसॉफ़िस्ट था, इसलिए मेरे मित्र मुझे श्रीमती बॅसेंट का अनुयायी मानते थे। मेरा ऑफ़िस शेअर बाज़ार के पास मरीन-स्ट्रीट पर ही था; सिद्धान्तों के वादविवादों की वह ख़ास ज़गह थी। वैसे उग्र वातावरण में गांधीजी का सभापति होना सबके लिए कौतुहल का कारण था; सबों का अनुमान था कि कोई अनहोनी बात होने वाली है। जिस तरह मेरे इन मित्र ने सभा की ख़बर देते हुए श्रीमती बेसेंट की ख़बर लेने की बात कही थी, उसी तरह बहुतों का अन्दाज़ था कि मतभेद के कारण गांधीजी भी श्रीमती बेसेंट की खबर लिए वग़ैर न रहेंगे।

सभा शाम को साढ़े चार बजे शुरू हुई। गांधीजी ने अध्यक्षपद से बोलते हुए कहा—'मैं श्रीमती बेसेंटको काफ़ी समय से पहचानता हूँ। कई साल पहले, जब से मैंने लंदन के विक्टोरिया हॉलमें इनका

भाषण सुना था तब से आज तक मैं इन्हें आदरपूर्वक देखता आया हूँ। इनकी सेवाएँ भी इतनी ज्यादा हैं कि अगर शेषनाग की तरह मुझे हजार ज़बान मिलें तो भी वर्णन नहीं कर सकता। आज मेरे और इनके बीच एक खास प्रकार का मतभेद है। लेकिन अभी भी एक बात जो मेरे दिल में है, अगर आपसे न कहूँगा तो अपने आप को धोखा दूँगा। वह बात यह है कि जब–जब मेरे और श्रीमती बेसेंट के बीच मतभेद पैदा हुआ है, तब तब मैं उसमें इनकी गलती न सोचकर अपनी ही गलती महसूस करता हूँ। अगर हम पूरी तरह सूर्य के सामने आँखें न खोल सकें तो यह सूर्य का दोष नहीं, हमारी पुतलियों का दोष है। मैं यही सोचकर इनके और अपने मतभेद की व्याख्या किया करता हूँ।'

महान भावना के साथ ये शब्द उस महापुरुष ने समाप्त भी न किये थे कि मैं अपने पास बैठे हुए मित्र की ओर झुका और कान में कहने लगा—'तुम गांधीजी को अभी तक नहीं पहचान सके, मैं भी आज ही इन्हें ठीक ठीक पहचान सका हूँ। इस शुभ अवसर के लाभ का उपकार तुमने मुझपर किया है। गांधीजी सचमुच युगपुरुष और अजातशत्रु हैं–उनका कोई दुश्मन नहीं। दुनिया में ऐसे युगपुरुष बहुत मुश्किल से पैदा होते हैं जो गाली का जवाब गाली से नहीं, बल्कि प्रेम से देते हैं; ऐसे महापुरुष को किये जाने वाले असंख्य प्रणाम भी थोड़े हैं। 'हमारे गाँधी, और तुम्हारी बेसेंट' कहने वाले वे सज्जन भी अभी तक वे शब्द भूले नहीं हैं।

(२) सन् १९२१ में 'तिलक स्वराज्य फंड' की स्थापना हुई थी जब कि सारे हिन्दुस्तान ने जून के आखिर तक फंड में एक करोड़ रुपये इकट्ठे करने का बीड़ा उठाया था। इसी सिलसिले में उन दिनों गांधीजी बंबई आये थे। 'स्वराज्य फंड' के बारे में सुबह से आधी रात तक सभाएँ होती रहती थीं। इन सभाओं में ऐसे भी अनेक दृश्य

दृष्य देखने को मिलते थे जो उस 'रुपये बरसाने' की कहावत को चरितार्थ करते थे। 'स्वराज्य फंड' के लिए होने वाले नाटकों में भी पचास पचास हज़ार रुपयों की टिकटें बिक जाती थीं। सभाओं के लिए भी टिकट रखी गई थीं आर किसी भी सभा में तीस चालीस हज़ार से कम की आमदनी न होती थी। ऐसी ही एक सभा बंबई की 'पारसी राजनैतिक सभा' ने एंपायर थिएटर में खास पारसियों के लिए आयोजित की थी। इस सभा में टिकटों की क़ीमत दूसरी सभाओं से ज्यादा रखी गई थी। उस दिन ज्यादा क़ीमत की टिकटों ने काफ़ी रकम दी थी, क्योंकि हिन्दुस्तान के बीस चुनिंदे विद्वानों के भाषण उस दिन थे, और गांधीजी सभापति थे। व्याख्याताओं में श्रीमती सरोजनी नायडू, अलीबन्धु, लाला लजपतराय, मि. स्टॉक्स वगैरह अग्रगण्य व्यक्ति थे। गुजरातियों में, कवि श्री लालजी और मेरा नाम व्याख्याताओं की सूची में था। सारा थिएटर पारसी भाई बहनों से खचाखच भरा था; एक कोना भी ऐसा नहीं बचा जिस में एक आदमी भी खड़ा रह सके। बड़ी से बड़ी क़ीमत लगाने पर भी हॉल अनुमान से ज्यादा भर चुका था। ठीक समय पर गांधीजी आये, आते ही उन्होंने सरसरी निगाह से सभा की कार्यवाही को देख लिया और 'पारसी राजनैतिक सभा' के कुशल मंत्री श्री. बरजोरजी फरामजी भरूचा को बुलाया।

व्याख्याताओं के नाम बताने पर गांधीजी ने भरूचा से पूछा कि—'रायचुरा बोलेंगे या गायेंगे?' 'गाएंगे!' फिर सवाल हुआ—'क्या गाएँगे?' जवाब मिला—'धन्य भूमि गुजरात!' 'मैं उन्हें नहीं गाने दूँगा!' यह कहकर गांधीजी ने लाल पेंसिल से मेरे नाम पर लकीर खींच दी। मैं थिएटर के 'रंगमंच' पर बैठा था! नाम कट जाने के बाद भरूचा मेरे पास आये और मुझसे हक़ीक़त कही। मैंने जवाब दिया—'इसमें मैं कुछ नहीं जानता, आप और बापूजी जानें, मुझे तो आपने गाने के

लिए बुलाया है इसलिए मैं यहाँ आया हूँ, अब आप जैसा कहेंगे वैसा करूंगा।’

भरूचा यों ही चुप बैठने वाले न थे, वे उसी वक्त श्रोताओं के पास गये और कइयों से गांधीजी के निश्चय की बात कही। जो पारसी सज्जन बड़ी रकम देकर उस सभा में आये थे उन्होंने ऐतराज किया–‘महात्माजी से कहें कि यह कोई ‘आम सभा’ नहीं है, हम यहाँ टिकट लेकर आये हैं। इस सभा में क्या क्या कार्यक्रम रखा गया है, उसे पढ़कर बड़ी रकमें देकर यहाँ आये हैं। हमें रायचुरा के मुँह से उनका गीत ‘धन्य भूमि गुजरात’ सुनना है। उसके लिए हमने पैसे दिये हैं इसलिए हमें उसे सुनने का अधिकार भी है। तुरन्त श्री० भरुचा मेरे पास आये और श्रोताओं का मत मुझे सुना दिया। मैंने उन्हें शांतिपूर्वक, जवाब दिया–‘इस बारेमें मैं कुछ नहीं जानता, आप और बापूजी जानें!’ तब वे गांधीजी के पास गये और उनसे हक़ीक़त कही। गांधीजीने पूछा ‘मैं इस सभाका सभापति हूँ या नहीं? अगर मैं सभापति हूँ, तो जो मुझे ठीक मालूम हो वह परिवर्तन मैं कार्यक्रम में कर सकता हूँ। श्री भरुचा पुनः श्रोताओं के बीच गये, जल्दी जल्दी कुछ बातचीत करके मेरे पास आये और धीरे से पूछा–‘रायचुरा, एक काम करोगे?’ मैंने पूछा–‘क्या?’ वे बोले ‘श्रोता लोग तो ‘धन्य भूमि गुजरात’ सुनने की ज़िद लेकर बैठे हैं, और बापूजी आज्ञा नहीं देतें; और हम सबों ने निश्चय किया है कि बापूजी की आज्ञा का उल्लंघन करके आपके मुँह से ‘धन्य भूमि गुजरात’ सुन कर ही रहेंगे!’ मैंने कहा-‘आप कहेंगे तो मैं गाऊंगा, मुझे कोई ऐतराज़ नहीं, लेकिन यह हो कैसे सकता है?’ उन्होंने कहा–‘देखिये, जब आपकी बारी आए, तो मैं खड़ा होकर आपसे निवेदन करूंगा, और आप झट आकर गाना शुरू ही कर दें!’ मैंने उनकी बात मानली।

जब वक्त हुआ, तो श्री. भरूचा ने खड़े होकर श्रोतागणों को

संबोधित करते हुए कहा–'मुझे गांधीजी लिए इतनी श्रद्धा है कि म उनकी आज्ञा के लिए कैसा भी मूल्य चुकाने को तैयार हूँ, लेकिन इस बार मैं आप सबोंके आग्रह से गांधीजी की आज्ञा का उल्लंघन करके भाई रायचूरा से निवेदन करता हूँ कि वे अपना गीत "धन्य भूमि गुजरात" सुनाएँ!' मैं खड़ा हुआ; श्रोताओं द्वारा गांधीजी के जयनाद से सारा थिएटर गूँज उठा; गांधीजी सभापति के आसन पर रंगमंच के एक कोने में बैठे थे। मैंने दूसरे कोने पर ठीक उनके सामने खड़े होकर अपनी कविता–"धन्य भूमि गुजरात मात, तुज भाग्यलेख कंई भव्य दिसे" ललकारना शुरू कर दिया। मुझे यहाँ यह बता देना चाहिए कि उन दिनों यह कविता इतनी लोक प्रिय हो गई थी कि उस समय बंबई की कोई भी सभा, थिएटर या हाल ऐसा न था, जहाँ कि मैंने यह गीत न गाया हो! मैंने इसी तरह सैकड़ों बार इसे गाया था लेकिन आज जिस तरह मैंने उसे गाया, वैसा न मैंने कभी गाया था, न गाऊँगा!

धन्य भूमि गुजरात मात, तुज भाग्यलेख कंई भव्य दिसे।
सहु साधू नो साचो साधू, साबरमती जलतीर बसे १

इस पहली पंक्ति से जनताने जयनाद शुरू किया जो कि अंतिम पंक्ति-

अभिनन्दन ए राजनगरने, अभिनंदन ए सरितातीर।
प्रजावर्ग ने छे अभिनन्दन, ज्यां रमता पयगंबर वीर २

१– हे गुजरात की धरती माता, तेरे भाग्य के लेख में कुछ अजीब सी महानता दिखलाई देती है क्योंकि सब साधुओं में एक सत्या साधु, तेरी साबरमती नदी के किनारे (अहमदाबाद में) रहता है। २– उस राजनगरी तथा उसमें बसने वाली जनता को वन्दन! उस नदी के किनारों को भी वन्दन है जहा वह वीर देवदूत घूमता रहता है!

तक बन्द न हुआ, जब कि जयनाद से सारा थिएटर गूंज उठा था। गीत की प्रत्येक पंक्ति ने जयनाद उत्पन्न किया और रूमाल हिलाकर और तालियां पीटकर लोगों को रोमांचित कर दिया ! सारा वातावरण गांधीजी के जयनाद से परिपूरीत हो उठा !

मैं गाते गाते एकटक उस शांत मुखमुद्रा, प्रशांत मुखमंडल और अलौकिक आंखों को ही देखता रहा। सागर की तरह वह धीरगंभीर पुरुष मानों उस चारों तरफ़ की हलचल को चुपचाप अबाध गति से सहन कर रहा था !

मेरा गीत समाप्त होने के बाद दूसरे वक्ताओं के भाषण हुए और अंत में सभापति गांधीजी की वाणी सुनने के लिए हजारों कान उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। आज पच्चीस वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा मालूम होता है कि वह गंभीर वाणी मैंने अभी कुछ ही क्षण पहले सुनी है, सारी बातें एक एक करके याद आ जाती हैं; उन शब्दों का भाव हूबहू ऐसा ही था—'आप लोगों ने अभी भाई रायचुरा का गीत सुना है; और उसे सुनकर आप सब दीवाने से हो गये, बहुतों ने तालियां भी बजाईं; कइयों ने रूमाल भी फरकाये, पैर बजाये और जयनाद भी किया ! लेकिन आप सबोंको मैं एक बात कहना चाहता हूं—वह यह है कि एक आदमी की मौजूदगी मैं इस तरह सामने उसके गुणगान करना, आदमियत की सबसे बड़ी ग़लती है; आज तुम जिस आदमी की तारीफ़ कर रहे हो, वह कल भी वैसा ही रहेगा इसका क्या भरोसा ? अगर वह आदमी कल बदल जाय तो ये कविता लिखने वाले, गाने वाले, उस पर मुग्ध होकर हर्षनाद करने वाले, तालिया बजाने वाले, और रूमाल फड़काने वाले सबों के लिए बहुत बड़ी लज्जा की बात होगी !'

इस तरह उन महातपस्वी के व्याख्यान समाप्त करने के बाद श्री०

भरूचा मेरे पास आये, और बोल उठे—'रायचुरा भाई ! आज बापूजीने आपको और मुझे सिर ऊँचा करने लायक नहीं रखा !' तब मैंने हँसते हँसते सम्पूर्ण सन्तोष के साथ कहा–'भाई, आज तुम्हारी और मेरी महत्ता ठीक तरह से वसूल हो गई !'

इसके बाद ऐसे और कई अवसर आये, लेकिन फिर कभी गांधीजी की उपस्थिति में उस कविता का पाठ मैंने नहीं किया !

बड़ौदाः १५–८–४५



गांधीजीकी श्रद्धा

• वैकुण्ठराय लू. मेहता •

(१) सन १९३६ के आखिर में, कॉंग्रेस के फैजपुर अधिवेशन के वक्त खादी और ग्रामोद्योग प्रदर्शनी का उद्घाटन गांधीजी के हाथों होनेवाला था। उनका डेरा प्रदर्शनी से क़रीब एक मील पर था। निश्चित समय पर मैं उन्हें लेने के लिए गया। उन्होंने पैदल आने की इच्छा प्रकट की। मैंने सलाह दी कि सुबह से ही लोगों की भीड़ शुरू हो जाती है, इसलिए सवारी कर लेना ही ठीक होगा; लेकिन उन्होंने यह बात नहीं मानी। मैं अकेला ही प्रदर्शनी के कार्यकर्ताओं की ओर से वहाँ गया था; किसी भी तरह की स्वयंसेवकों की व्यवस्था नहीं की गई थी, इसीलिए मुझे डर था कहीं लोगों के झुंड इकठे होकर हमें घेर न ले, जिस से आगे बढ़ना ही दूभर हो जाय; लोगों की धक्काभुक्की से चोट वगैरह का भी डर था। गांधीजी ने मेरी भीतरी दुर्बलता से हँसकर कहा–'लोगों के पूज्य भावका दुरुपयोग न होने पाये, वे अपने आप सब व्यवस्था कर लेंगे!' इस बात से मुझे कुछ तसल्ली हुई। सड़क पर जाते जाते लोग बढ़ते गये और जब गाँव के क़रीब आये और लोगों के झुंड हमें घेरने लगे तो मेरी घबराहट बढ़ गई। किंतु जैसे जैसे लोग घेरते जाते थे वैसे ही आसपास के आदमी खुद ही स्वयंसेवक बनकर बचाव करते जाते थे; उन्होंने गांधीजी के आसपास एक दूसरे का हाथ पकड़कर कड़ी जैसी बनाई। इस तरह पूरी 'जमात' आगे बढ़ती गई और वैसे ही हम प्रदर्शनी के दरवाजे पर पहुँचे; नियमानुसार हमें देरी भी नहीं हुई। इस तरह मेरी दुर्बलता सिद्ध हो गई और गांधीजी का विश्वास सच निकला!

(२) यह जाहिर है कि, गांधीजी अपने सम्पर्कमें आने वाले

कार्यकर्त्ताओं के स्वास्थ्य के विषय में काफ़ी सावधानी रखते हैं। उनकी ख़ुद की तबियत चाहे जैसी हो, लेकिन उनका ध्यान उस ओर गये बग़ैर नहीं रहता। सन् १९४३ के फ़रवरी महीने में, उनके उपवास के दिनों में, पूना के आग़ाखाँ महल में, श्री० विठ्ठलदास जेराजाणी के साथ मुझे मुलाकात के लिए तीन मिनट का समय मिला था। उस दिन से उनकी तबियत बिगड़ना शुरू हुआ था। उन्हें कुछ नई ख़बर देने के विचार से मैंने श्री० कुमारप्पा की तबियत के बारे में संक्षेप में उन्हें सूचना दी। उन दिनों श्री० कुमारप्पा आर्थर-रोड जेल में थे। लेकिन उन्हें बार बार दांत का इलाज़ कराने के लिए जे. जे. हॉस्पिटल जाना पड़ता था। मैंने गांधीजी से यह हक़ीक़त कही। यकायक उन्हें इस बात का गहरा दुख: हुआ, यह बात मुझे उनके चेहरे से मालूम हुई। लेकिन वह बात ज़्यादा देर ज़ारी नहीं रही। उसके कुछ ही दिनों बाद अचानक एक दिन, जेल विभाग के बड़े अफ़सर कर्नल भंडारी, कुमारप्पा के समाचार पूछने के लिए आर्थररोड जेल जा पहुँचे। श्री० कुमारप्पा अचानक उस मुलाक़ात का मतलब नहीं समझ सके। जब उन्हें आगे पीछे की सब बातें मालूम हुईं तो अन्दाज़ लगाया कि, गांधीजी को कही गई एक क्षण भर की बात से इस मुलाकात का सम्बन्ध था!

सब कोई जानते हैं कि 'बॉम्बे क्रॉनिकल' के सम्पादक, सैयद अब्दुल्ला ब्रेलवी पर गांधीजी का अत्यंन्त स्नेह है। जब सन् १९३३ में गांधीजी यरवडा जेल में थे तो ब्रेलवी भी वहीं दूसरे विभाग में थे। उन दिनों यह मालूम होने पर कि ब्रेलवी की जेल अधिकारियों से कुछ खटपट हो गई है, गांधीजी को बहुत चिंता हुई। एक दिन मैं भाई ब्रेलवी से मिल कर, हरिजनकार्य के लिए गांधीजी के पास गया। उन्होंन जब महादेवभाई के ज़रिये ब्रेलवी के समाचार मालूम कर लिए तब ही संतोष हुआ। उसी तरह सन् १९४५ में भी वैसी ही चिंता

उन्हें, भाई बेलवी के लिए हुई थी। कलकत्ते में उग्र हृदय-वेदना के कारण वे काफ़ी कमज़ोर हो गये थे। जब मैंने सेवाग्राम में जाकर यह बात गांधीजी से कही तो वे चिंतातुर हो गये। दूसरी सब बातें छोड़कर उन्होंने कागज़ कलम निकाली, और उर्दू में उनके नाम खत लिखकर मुझे सौंपा; जिसमें उनकी तबियत के हाल और उपचार और विधि सूचित करने की बात थी!

बंबई : २-८-१९४५



आश्रम और जेल में

● श्री. छगनलाल ना. जोशी ●

सन १९२८-२९ में, मैं साबरमती सत्याग्रहाश्रम-उद्योग मंदिर का मंत्री था। उसी वक्त के दरमियान गांधीजी के साथ होनेवाली विविध बातों और घटनाओं में से कुछ यहाँ अंकित की गई हैं।

(१) एक साल श्री० देवदास, दिल्ली के 'जामिया-मिल्लिया' में कातने की क्लास के शिक्षक नियुक्त हुए; जाते जाते वे साथ में अपने भतीजे, श्री० हरिलाल के पुत्र, रसिक को भी ले गये। वहीं उसे टाईफॉइड हो गया, जो घातक निकला। जिस दिन रसिक के अवसानकी खबर आश्रम में पहुँची उसके दूसरे रोज़ मैं नियमानुसार जब गांधीजी के साथ घूमने निकला तो उन्होंने रास्ते में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी चिकित्सा संबंधी बातें शुरू कीं। बहुत से डॉक्टर टाईफॉइड में भी रोगी को दूध देने का आग्रह करते हैं, जो बिल्कुल अयोग्य है। निसर्गोपचार के मुताबिक़ ऐसे बुखार में तो दूध दिया ही नहीं जा सकता। कुछ देर ठहरकर वे बोले–'बहुत से डॉक्टरों की विश्वास है कि अंतिम समय में जब तालु और गला बन्द हो जाता है, तो बाहर से इंजेक्शन के जरिये खुराक देने से बीमार को फायदा पहुँच सकता है!' इसका एक उदाहरण देने के बाद व बोले 'छगनलाल यह बात तुम अपनी रोजनिशी (डायरी) में लिख लो कि जब मैं बेहोश होकर मरने के क़रीब हूँ, तब चाहे जैसे डाक्टर या वैद्य के आग्रह पर भी कृत्रिम तरीक़े से खुराक देकर मुझे जिलाने का प्रयत्न न करना। इंजेक्शन या गुदामार्ग से मेरे शरीर को खुराक न पहुँचाना। जब यह बात निकली ही है तो कुछ और बातें भी कहे देता हूँ। अगर कोई डॉक्टर मुझे होश में लाने के लिए ब्रान्डी या कोई

दूसरी शराब, शरीर पर मलने को कहे तो तुम अपनी शक्तिभर विरोध करना। डॉक्टर या वैद्य तुम्हें सनकी और विक्षिप्त की उपाधि दे दें तो भी, तुम मेरे वारिस हो, नज़दीक के सम्बन्धी हो! तुम ही मेरी बात ठीक तरह से समझ सकोगे, यही समझकर, इस बात की भरसक कोशिश करना कि मेरा बेहोश शरीर शराबको छू भी न सके। और आखिरी बात—जहाँ मेरा प्राण छुटे वहीं याने उसी गाँव में अग्निसंस्कार करना, मेरे शव को दूसरी ज़गह ले जाने का आग्रह न करना, और ऐसा करने वाले को मना करना!

ये तीनों बातें मैंने अपनी डायरी म लिखी भी थी। लेकिन सन् १९३३ में जब आश्रम हटा दिया गया तो वह डायरी गड़बड़ में कहीं खो गई है। इसलिए यहाँ गांधीजी का शब्दशः वक्तव्य नहीं दिया जा सकता, लेकिन भावार्थ यही है।

(२) जिस वक्त श्री० मगनलाल गांधी के यकायक अवसान की खबर मिली उस वक्त गांधीजी दोपहर का भोजन कर रहे थे। उन्होंने 'हे राम' कहकर गंभीर निश्वास छोड़ी, पर ककड़ी खाना उसी तरह ज़ारी रखा, यह मुझे ठीक ठीक याद है। उसके बाद 'यंग इंडिया' के लेख में उन्होंने लिखा कि—'मगनलाल के जाने से, संतोष-बहन से ज्यादा वैधव्य मुझे मिला है!' उसके बाद एक साल तक वे आश्रम में ही रहे।

(३) सन् १९३० के मार्च में 'दांडी यात्रा' शुरू होनेवाली थी। दुर्भाग्य से फ़रवरी से ही आश्रम के बालकों को शीतला निकलना शुरू हो गया। पंडित खरे और खादीसेवक श्री० मथुरादास के दो बालक उसी शीतला की भेंट हुए। उनके सिवा दूसरे आठ बच्चों कों भी शीतला निकली थी। उन सबों को 'वेटशीटपेक' अर्थात गीली चादर में लपेटकर रखा जाता था। 'पोटाशियम परमेग्नेट' के पानी से घाव

धोये जाते थे। खुद गांधीजी आंतरिक चिंतासे प्रेरित होकर देखभाल करते थे। प्रार्थना में भाषण देते हुए- उन्होंने कहा कि-'मैं शीतला के लिए टीका लगाने के विरुद्ध हूँ।' उन्होंने इस वक्त टीका न लगाने के कारण भी समझाये और कहा कि-'अगर फिरभी कोई मांबाप अपने बच्चेको टीका लगाना चाहे, वह खुशी से लगा सकता है। उन दिनों उनका अपना मत टीका न लगाने के पक्ष में ही था। *

(४) सन् १९२९ के लाहोर-अधिवेशन के बाद कॉंग्रेस के सभी दफ्तरों और कॉंग्रेस से प्रभावित दूसरी संस्थाओं में राष्ट्रीय झंडा फहराना चाहिए ऐसा प्रचार करने के लिए निकले हुए डॉ० हर्डिकर गांधीजी के पास आये। उन्होंने गांधीजी से अनुरोध किया कि आश्रम में भी तिरंगा झंडा लगा दिया जाना चाहिए और रोज़ झंडावंदन भी होना चाहिए। गांधीजी ने मुझे बुलाया। शुरू शुरू में झंडेको मापने और ध्वजस्तंभ को बनाने वगैरह के बारे में ही बात हुई। बातचीत ज़ारी थी कि बीच में ही गांधीजी बोल उठे — 'आज सत्याग्रहाश्रम में ऐसा ध्वजारोपण करना मुझे ठीक मालूम

* इस बारे में गांधीजी का सही मत क्या है यह जानने के लिए मैंने श्री० किशोरलाल मश्रूवाला से मालूम करनेकी प्रार्थना की थी। उन्होंने ता० ९-८-४५ के पत्र में सेवाग्राम से लिखा कि 'बापू ने तो हमेशा यही कहा है कि ऐसी कारुणिक मृत्यु होने पर भी मैं शीतला होने पर टीका लगाने में विश्वास नहीं करता; लेकिन अगर कोई टीका लगाता है तो मैं उसे रोकना भी नहीं चाहता।'

आश्रम में सुशीला बहन ने टीका लगाने का बहुत आग्रह किया। बापूने कहा कि विरोध न हो तो हरएक आदमी टीका लगा सकता है; जिसे विरोध हो वह वैसे रहे कि वह दूसरो में न फैले, जिससे कि उसे दूर रहने को कहा जाय तो वह दूर रहने के लिए तैयार रहे।

—सम्पादक

नहीं होता। अगर एक बार आश्रम में झंडा लाग दिया गया तो प्राण की क़ीमत से भी उसका सम्मान बनाये रखने की सामर्थ्य आश्रमवासियों में होनी चाहिए। आश्रम को झंडे की शान के लिए कुर्बानी करने को तैयार रहना चाहिए। आज ऐसी तैयारी आश्रम—उद्योग मंदिर—में नहीं है। शायद आश्रम, झंडे के लिए भस्मीभूत होने के लिए तैयार न होगा। इसीलिए फ़िलहाल डॉ० हर्डीकर को मेरी यही सलाह है कि वे अभी आश्रम में झंडे का अनुरोध न करें।

(५) सन् १९३२-३३ में पांच महीने मुझे गांधीजी के साथ यरवदा जैल में रहने का सुअवसर मिला था। हैदराबाद (सिंध) से मेरी बदली यरवदा जैल में गांधीजी की सम्हाल के लिए हुई थी। जब मैं यरवदा आया तो मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी ने फल और बकरीके दूध की खुराक छोड़कर सामान्य वर्ग के कैदियों की खुराक—ज्वार की रोटी और तरकारी-लेना शुरू किया हैं। कारण यह था कि गांधीजी के एक पुराने साथी श्री० सीताराम पुरुषोत्तम (अप्पासाहेब) पटवर्धन को अधिकारियों ने मेहतर का काम करने से मना कर दिया था। जब सन् १९३१ में गांधीजी गोलमेज़ परिषद् में भाग लेने के लिए लन्दन जा रहे थे तो जल्दी जल्दी में अप्पासाहेब ने उनसे पूछा था कि जेल में भंगी का काम भील वग़ैरह निम्न वर्ग के लोगों (क़ैदियों) से ज़बरन कराया जाता है, यह तक़लीफ़ मिटाने के लिए क्या हम वह काम करने की माँग कर सकते हैं?' गांधीजीने जवाब दिया था कि—'यह मांग बिलकुल वाज़िब है।'

सन् १९३२ में अप्पासाहेब ने रत्नागिरी जेल में अधिकारियों स ज्यादती की वज़ह से अपने लिए भंगी के काम की माँग की; जेल के अधिकारियों ने इन्कार क़र दिया। अप्पा साहब ने आधी 'भूख हड़ताल' शुरु कर दी; शुरु शुरु में दो के बदले एक ही रोटी खाने लगे, कुछ

दिन बाद आधी रोटी लेने लगे, फिर दाल और तरकारी भी छोड़ दी। इस बात की ख़बर गांधीजी के पास पँहुचने पर उन्होंने जेल विभाग के उच्चाधिकारी से पत्र-व्यवहार किया; उन्होंने भी झट कोई सूचना न दी; इस लिए गांधीजीने अप्पासाहेब के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए तीन दिनतक दाल-रोटी खाई। उसके बाद अप्पासाहब की माँग मँजूर हो गई।

(६) १९३३ के अप्रैल महीने में यरवदा जैल में गांधीजी ने हरिजन कार्य के अन्तर्गत २१ दिन अनशन करने का निश्चय प्रगट किया। उपवास ८ मई से शुरु होने वाला था। देश-विदेश से उपवास के निश्चय को स्थगित करने की प्रार्थना के साथ कई तार और पत्र आये; इसके अलावा बहुत से शुभचिंतक, मित्र और सम्बन्धी खुद उनसे मिलकर समझाने भी कोशिश करने लगे। ये सब चर्चाएँ आम के पेड़ के नीचे होती थी जहाँ सरदार साहब नहीं जा सकते थे। शाम होने पर वहाँ से लौटते वक्त महादेव भाई से ही मालूम होता था कि आज कौन कौन वहाँ आये और क्या क्या बातें हुई? सरदार के साथ मैं भी सब बातों से अवगत रहता था। ज्यों ज्यों उपवास का दिन नज़दीक आता गया त्यों त्यों उनका (गांधीजी का) उत्साह और विश्वास बढ़ता जाता था। उस वक्त राजाजी और श्री० शंकरलाल बेंकर ने उनसे बहुत आग्रह पूर्वक कहा कि—'अब आपका शरीर २१ दिन के अनशन के लायक नहीं रहा। ईश्वर न करे, अगर हमें लगा कि अब तो आपकी आख़िरी साँसें चल रही हैं, और डॉक्टर भी यही कहें, और आपकी तबियत को देखकर उपवास छोड़ने की सलाह दें तो आपको उपवास छोड़ना ही चाहिए।' गांधीजी का पक्का विश्वास था कि उपवास करने का आदेश उन्हें अन्तर्यामी की तरफ़ से मिला है। राजाजी और शंकर-लाल ने जो नये नये तर्क किये वे उनके दृढ़ निश्चय को डगमगा सकते थे। गांधीजी तब उत्तेजित-से होकर बोल उठे—'तुम मेरी सजीव श्रद्धा को मिटाना चाहते हो! तम मेरे कहे पर बिलकुल भरोसा न करके उन

डॉक्टरों की बात मानोगे, जो मेरे शरीर की नाड़ी देखकर, हृदय की धकधक की जाँच करके, और खून का दबाव माप कर तुम्हें सलाह देंगे ? मैं, तुमसे अनुरोध करता हूँ कि ऐसी डॉक्टरी जाँच की कोई ज़रूरत नहीं है।' शायद गांधीजी ने इससे भी कठोर भाषा का व्यवहार किया होगा। तीन घंटे के बाद शाम के घूमने के वक्त तक भी वातावरण शांत नहीं हुआ था। दूसरे दिन सबेरे गांधीजी नित्य की तरह तीन बजे उठे। चार बजे की प्रार्थना हुई। जेल खुलने का पौने सात का घंटा बजा, लेकिन जेलर अभी तक हमारे यार्ड में नहीं आये, इसलिए गांधीजी को कुछ बेचैनी हुई। गांधीजी ने तब एक चिठ्ठी देकर मुझसे कहा कि—'जेलर से कहो कि चिठ्ठी वे राजाजी के पास पर्णकुटी पर तुरन्त पहुँचा दें।' राजाजी के नाम की वह चिठ्ठी इस प्रकार थी—'तुम मुझे प्राण से भी ज़्यादा प्यारे हो; कल मैंने तुम्हारा और शंकरलाल का बहुत जी दुखाया। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मुझे क्षमा कर दो, क्योंकि मेरे माँगने से पहले ही तुम मुझे क्षमा कर दोगे। लेकिन मैंने कल जिस बात से इन्कार किया था वही आज करने के लिए तैयार हूँ। तुम जब चाहो, मैं तुम्हारे कहे मुताबिक़ डाक्टरी जाँच करा लेने के लिए तैयार हूँ, शर्त यही है कि इसके लिए सरकार की मंजूरी मिलनी चाहिए। मुझे यही ठीक लगता है डॉक्टरी जाँच का नतीजा जाहिर न किया जाय, क्योंकि उससे राजनैतिक उपयोग का सवाल उठ खड़ा होता है। मैं साथ ही साथ यह भी बता देना चाहता हूँ कि डॉक्टरी जाँच करने पर भी उपवास रुक नहीं सकता। इस बारे में ज़्यादा बातें हमारे मिलने पर होंगी। यह चिठ्ठी तो कल के, मेरे हृदय के मैलेपन को निकाल डालने के ही लिए लिखी है।* तुम्हें और शंकरलाल को स्नेहस्मरण !'

—बापू (९–५–३३)

*जिस दिन पत्र मिला उसी दिन राजाजी हँसते हुए जेल में गये और कहा—'आपको क्षमा माँगने की कोई जरूरत नहीं है। आपसे ज्यादा नाराज़ तो हम हुए थे। अब हमनें डॉक्टरी जाँच न कराने का ही निश्चय किया है। —सम्पादक

गांधीजी के बहुत से पत्र मेरे पास हैं, उनमें में से एक में, उन्होंने अपने क्रोध के बारे में जो लिखा है उसे मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—'सच तो यह है कि तन्दुरुस्ती किसी के दिखाने से नहीं मिलती, अपने भीतर से निकलनी चाहिए। मैं ख़ुद अभी क्रोधराक्षस से जूझ रहा हूँ। अपने नज़दीक के किसी भी व्यक्ति से ज़रा भूल हुई नहीं कि क्रोधशत्रु सवारी करने के लिए आ टपकता है। यह अवस्था शरीर और मन, दोनों की कमज़ोरी सिद्ध करती है। अगर मन बिलकुल ही उदासीन हो जाय तो शरीर की कमज़ोरी किसी का क्या बिगाड़ सकती है? बुद्धि इस बात को जानती है, लेकिन हृदय को अभी तक इसका स्पर्श नहीं हुआ है। पर किसी दिन इस क्रोध को भी जाना ही होगा...लेकिन मेरी तरह ईश्वर कृपा पाने के साथ साथ तुम्हें और भी बहुत कुछ करना बाकी है। तुम मुझमें और अपने में ज़राभी फ़र्क न समझना। दोनों में एक ही आत्मा है। दोनों में पशुता शेष है; और जिस दिन अपने में इस बात की अनुभूति होगी, वह पशुता भी नष्ट हो जाएगी।—बापू के आशीर्वाद' (१६-९-२९)।

(८) मुझे यरवदा जेल में क्यों रखा गया था, यह मैंने पहले बता दिया है। मैं था नौसिखिया आदमी! जिंदगी में कभी मालिश करना सीखा नहीं था। भोजन के नये प्रयोग के कारण गांधीजी की तबियत बिगड़ रही थी। मुझे पैर की पिंडलियों की मालिश करने को कहा गया। मैंने हाथ में गरम तैल लेकर अँगुलियों से पिंडलीपर लगाना शुरू किया और अँगुलियों से ही पैर मलना भी शुरू किया। गांधीजी बोले—'छगनलाल, मालिश ऐसे नहीं की जाती; हथेली से की जाती है।' यह कहकर, मेरी पिंडली की एक बार मालिश करके मुझे क्रियात्मक सबक सिखाया। सरदार साहब पास में बैठे बैठे लिफ़ाफ़े बना रहे थे; म तो शर्म से ज़मीन में ही गड़ गया। पांच महीने में कुछ कुछ मालिश करना सीख लिया। गांधीजी की छाती पर मालिश

करते वक्त वहां के बाल खिंचते थे। मालिश करने में एक हज्जाम कैंदी मुझसे कई गुना बढ़ाचढ़ा था। सरदारसाहब का यह सोचना स्वाभाविक ही था कि मुझ नौसिखिए की अपेक्षा उस हज्जाम से मालिश कराना अच्छा है। लेकिन गांधीजीने मेरा यह अधिकार किसी दूसरे को न लेने दिया। इन्हीं दिनों मुझे भी यह बात अनुभव हुए बिना न रही कि गांधीजी सचमुच नींद लेने में सिद्ध-हस्त हैं। मैंने कई बार लगातार आधे घंटे तक छातीपर मालिश की है और उन्हें भरपूर नींद लेते देखा है।[1]

(९) गांधी-सेवा-संघ को ढाई लाख-रुपये—या कहिए की सर्वस्व का दान करने वाले—श्री० जीवराम भाई कोठारी, उड़ीसा में दरिद्र-नारायण की सेवा करते हुए रक्तपित्त रोग के शिकार हुए थे। गांधीजी, जेल में से उन्हें इलाज के लिये अलग अलग तरीक़े बिस्तार के साथ लिख भेजते थे। इसके सिवा सरदारसाहब और श्री० महादेव देसाई से बार बार जीवराम भाई की सरलता, साधुता और उड़ीसा की कंगालियत की बातें करके कई बार अपने दिल का दर्द निकालते थे। उन्हीं दिनों श्री० जमनालाल, यरवदा जेल में, 'सी क्लास' में थे। उनका पचास पौंड वज़न कम हो चुका था और कान में तीव्र वेदना होती थी। श्री० जमनालाल और हमारे बीच सिर्फ एक दीवार खड़ी थी, लेकिन हमें उनसे मिलने की इज़ाज़त नहीं थी। वे जांघिया और बनियान पहनते थे, और १८ इंच का जो अंगोछा मिलता उसे हवा न लगने के लिए

१—लगातार दौरे के दिनों में जब मोटर में घूमना होता है, तो गांधीजी मोटर की पिछली बैठक पर सो जाते हैं, और एक गांव से दूसरे गांव पहुंचने तक बीच के वक्त में सो कर ही, अपनी नींद पूरी कर लेते हैं। सन् १९३४ में त्रावणकोर में, ऐसे दौरे के वक्त मैं और ठक्करबापा भी साथ ही थे। एक दिन शाम को गांधीजी नींद में से उठे और पांच मिनट गांव में ठहरकर फिर से सोने की तैयारी करते हुए बोले—'मुझ जैसा कोई सोनेवाला देखा है?'—सम्पादक।

कानपर लपेट रखते थे। रोज़ ८० फ़ीट नारियल के बाल की रस्सी बनाते थे और ज्वार-बाजरी की रोटी और दाल खाते थे। इन बाहरी अड़चनों से वे हारने वाले न थे। गांधीजी को भी इस बात का दुःख नहीं था, लेकिन दिनोंदिन उनकी कान की तकलीफ़ बढ़ती जाती थी और जेल में इलाज के साधन बिलकुल नहीं थे, इससे गांधीजी को हार्दिक पीड़ा होती थी। उन्हीं दिनों गांधीजी के पुत्र श्री० रामदास भी यरवदा जेल में 'सी' क्लास में ही थे। इस बात से गांधीजी को कुछ संतोष सा होता था कि हज़ारों दूसरे स्वयंसेवकों के साथ उनका पुत्र भी जेल-यातना की परीक्षा दे रहा है। वे श्री० रामदास के जरिये 'सी' वर्ग के कैदियों के पास, बिना घी दूधवाले भोजन से भी तबियत कैसे ठीक रखी जा सकती है, इसके तरीक़े कहला भेजते थे। उन्हीं दिनों चिंचवड़ की 'राष्ट्रीय शाला' के अध्यापक श्री० परचुरे शास्त्री को यरवदा जैल के 'रक्त-दोष' वाले अलग वार्ड में रखा गया था। गांधीजी के नाम उनका कोई भी सन्देशा किसी भी छोटे बड़े काम के लिए मिलता तो वे उस काम को तुरंत शुरु कर देते थे। आज से चार साल पहले, उन्हीं परचुरे शास्त्री के जख्म को धोते हुए गांधीजी को देखने का अवसर मुझे मिला है।

(१०) साबरमती आश्रम में, कड़कड़ाती सर्दी के दिनों में गांधीजी रात को 'हृदयकुंज' × के बरामदे में सो जाते थे। सन् १९२९ के जाड़े में एक रात बर्फ़ गिरी, फिर भी उन्होंने अपनी खटिया वहाँ से नहीं हटाई। दूसरे दिन सुबह हम लोगों ने प्रार्थना, खुले मैदानमें ज्यादा ठंड होने से बरामदे में ही की। गांधीजी, नियमानुसार सुबह छःबजे गरम पानी पीकर घूमने निकले. उन दिनों मैं आश्रम का मंत्री था, इसलिए मैं भी रोज़ सबेरे उनके साथ घूमने जाता था। अतिशय ठंड के कारण पैर भी

× गांधीजी की जगह का नाम साबरमती आश्रम में, 'हृदय कुंज' रखा गया था।

चप्पल में नहीं टिक रहे थे, और जाड़े की वजह से सारा बदन कांप रहा था, लेकिन वैसी सर्दी में भी गांधीजी उस दिन साबरमती जेल के दरवाज़ेपर लगे हुए खंभे को छुए बिना वापस नहीं लौटे। जब हम लोग लौटे तो देखा कि अरंड-ककड़ी के सब पेड़ सर्दी से जल चुके थे। आश्रम की कुंडी का पानी जमकर बर्फ़-सा हो गया था। जब वहां के बच्चों ने वहां के बर्फ़ के टुकड़े गांधीजी को बताये तब उन्हें विश्वास हुआ कि रातको आश्रममें पारा ३४° डिग्री के नीचे तक गया होगा। आश्चर्य की बात यह थी कि वैसी भयंकर सर्दी में भी वे रोज़ की की तरह बाहर सो रहे, और उस दिन की सर्दी में कुछ खासियात मालूम ही न हुई।

(११) सन् १९२४ में गांधीजी ने अपने पुत्र श्री० रामदास को रोज एक घंटे गुजराती, संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ाने का नियम किया था, जिसमें हिंदू धर्म की पहली पुस्तक और 'यंग इंडिया' के लेखों और उनके भाषान्तरों का भी समावेश था। उसी अर्से में अहमदाबाद म्युंनिसी-पालिटी के नये हॉल में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई थी। गांधीजी रोज सबेरे ४ से रात के दस बजे तक नेताओं के साथ मंत्रणाओंमें लगे रहते थे। वे एक रोज़ रात को नव बजे आश्रम में लौटे, और 'बा' से पूछा—'राम कहां है?' 'बा' ने कहा—'थककर सो गया है अब जगाने की जरूरत नहीं है!' वे बोले—'लेकिन मैंने रोज़ उस एक घंटा पढ़ाने का नियम किया है, वह इन्कार करेगा, तब ही मैं सो सकूंगा!' लेकिन यों ही नियम-भंग कैसे हो सकता था? रामदास को जगाकर जब कुछ देर तक पढ़ाया, तब ही उन्हें शांति हुई।

(१२) सन् १९२८ में आश्रम को नया रूप देने के लिए आश्रम-वासियों द्वारा नियमों का कठोरता के साथ पालन करने का निश्चय किया। सन् १९२८ का पूरा वर्ष उन्होंने आश्रम में ही बिताया था।

उन दिनों सारा आश्रम एक पाठशाला जैसा बन गया था। आश्रम का अनुशासन यों तो शुरू से ही ज़रा कठिन था, लेकिन समय के बीतने के साथ उसमें काफ़ी शिथिलता आ गई थी। एक दिन शाम को गांधीजी ने आश्रमवासी भाई बहनों के साथ बैठकर खास बड़े बड़े नियम निश्चित किये, जिन्हें अनिवार्य बनाने का भी निश्चय किया गया था। ने नियम ये थे—(१) सभी आश्रमवासियों की, सबेरे ४ बजे की प्रार्थना में अनिवार्य उपस्थिति (२) सब आश्रमवासी संयुक्त रसोई घर में भोजन करें। (३) हरएक आश्रमवासी रोज़ कम से कम १६० तार काते। (४) घर के मामूली कामों के लिए कोई नौकर या मज़दूर न रखा जाय (५) रात को आश्रम की रखवाली करने में प्रौढ़ वय के भी सभी व्यक्ति शामिल हों (६) पाख़ाना साफ़ करने में छोटे बड़े सभी बारी बारी से शामिल हों! (८) हरएक आश्रमवासी, कम से कम ८ घंटे वह काम करे जो आश्रम की ओर से दिया जाय। (९) रोज़ किये जाने वाले काम की डायरी में नौंध की जाय।

सभी आश्रमवासियों को शुरू शुरू में इन नियमों को पालने की तालीम दी गई। खुद गांधीजी, सुबह की प्रार्थना के बाद, सात बजे बहनों के वर्ग को पढ़ाते थे, जिसमें प्रार्थना में आने वाले संस्कृत श्लोकों और दूसरे साधारण-ज्ञान की चर्चा होती थी। गांधीजी, रोज़ नियम-पूर्वक रसोईघर में तरकारी सँवारने और (दूसरे) ज़रूरी कामों में हाज़िर रहते थे। रोज़ सुबह और शाम की प्रार्थना के बाद एक-आध भाषण भी देते रहते थे। सात दिन में एक बार उद्योग-मंदिर की कार्य-समिति की बैठक होती थी, जिसमें गांधीजी, जहाँ कहीं भी कार्य-कर्त्ताओं में मतभेद की संभावना होती, वहाँ तैल सींचने का सा काम करते थे। नियमों के बारे में एक यह भी निश्चय किया गया कि अगर किसी आश्रमवासी के द्वारा किसी भी नियम की तीन बार अवहेलना की गई

तो, वह राज़ीखुशी आश्रम से निकल जाय; और एक बार जो नियम बना दिये जाँय उनमें अपवाद न हो। एक बारह बरस पुराने आश्रम-वासी ने दलीलकी कि—'आप ही ने डायरी लिखने का आग्रह किया है, और आप इसे देखेंगे भी, इस से आश्रमवासियों में दंभ और छल कपट फैलने में मदद मिलेगी, और झूठ को अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय मिलेगा, इसलिए मैं डायरी नहीं लिखूंगा।' वे भाई बुनने में सिद्धहस्त थे, और नियम वग़ैरह पालने में भी कट्टर थे। गांधीजी ने उन्हें प्रकाश्य रूप से कई तरह समझाया, लेकिन उनके गले यह बात नहीं उतरी, और इसी वज़ह से उन्होंने आश्रम छोड़ दिया।*

आश्रम के शामिल रसोईघर में, क़रीब डेढ़ सौ छोटे बड़े व्यक्ति एक साथ भोजन करते थे। रसोई घर के लिए कोई नौकर या मिसर नहीं था। उबाली हुई चीज़ें ही (तरकारियाँ वग़ैरह) खाने को होती थीं। वहाँ की बहनों ने कई बार अनुरोध किया कि तरकारियाँ छौंकी हुई होनी चाहिए, लेकिन आखिरकार इस बारे में गांधीजी ही की जीत हुई।

आश्रम के रसोईघर का एक दूसरा नियम यह भी था कि वहाँ गाय का ही दूध और घी काम में लाया जाय। अगर गाय का दूध और घी न मिले रूखा ही भोजन काम में लाया जाय, भैंस के घी या दूध का उपयोग न किया जाय। जब गाय का घी अप्राप्य हो गया तो गांधीजी कुछ बुज़ुर्ग आश्रमवासियों में अलसी के तैल का प्रचार करने लगे, जिनमें विद्यार्थी भी शामिल थे। गांधीजी कहते थे कि—'अलसी का तैल खाने से विनोबा का वज़न १५ पौंड बढ़ गया

*तब से गांधीजी ने खुद, रोज़ डायरी लिखना शुरू किया। वे अपनी डायरी में मिलने के लिए आने वाले स्त्री-पुरुषों का उल्लेख भी करते हैं।

—सम्पादक

है, तुम लोग भी एक बार आज़मा कर देख लो। आखिरकार एक दिन वह कडुवा और विचित्र गंध वाला अलसी का तैल शामिल रसोईघर में आया और धीरे धीरे खानेवाले उसे रोटी पर लगाकर खाने के अभ्यासी हो गये। दाल में तो घी डाला ही नहीं जाता था। सेंके हुए गेहूँ के आटे की दलिया जिसमें गुड़ डाला जाय, शरीर के लिए फ़ायदेमंद होनी ही चाहिए, यह हम लोगों का विश्वास था। इस बारे में भी चर्चाएँ होती थीं कि कद्दू की पकाई हुई तरकारी वातकारक होती है, यह ग़लत है। इस बारे में गांधीजी, आश्रम की बहनों से घंटों चर्चा करते रहते थे—रसोई घर का काम जल्द कैसे ख़त्म किया जा सकता है; चूल्हेमें कैसे और क्या क्या सुधार किये जा सकते हैं; पाँवरोटी बनाते वक्त कितनी सावधानी रखी जानी चाहिए। जब गांधीजी, उन बहनों का उच्चारण शुद्ध कराने का प्रयत्न करते थे, जो श, ष, स तथा च और छ के उच्चारण का भेद नहीं समझ सकतीं और श्लोक बोलने में थुथलाती थीं, उस वक्त दूसरे देखनेवाले के लिए हँसी रोकना मुश्किल हो जाता था। 'प्रार्थना' शब्द का अर्थ भगवान से कुछ मांगना होता है, इसलिए उस की जगह 'उपासना' शब्द का उपयोग होना चाहिए, इस बारे में भी घंटों वादविवाद होता रहता था। कई भाइयों का यह अभिप्राय भी था कि आश्रम में किये जानेवाले बहुत से काम 'रूटिन'—याने एक जैसे हैं, इसलिए शिक्षित या बुद्धिप्रधान लोगोंसे ऐसे काम नहीं कराये जाने चाहिए। इस चर्चा के उत्तर में गांधीजीने एक ख़त लिखा था कि—'अगर 'महादेव' रूटिन काम करते हैं तो उससे उनकी दिमागी ताकत घिस का जाने ज़रा भी डर नहीं; क्योंकि उससे तो उनकी वह शक्ति और ज्यादा सुधरेगी। 'रूटिन' काम करने से विचारों में स्पष्टता और दृढ़ता आती है। जो सिर्फ़ सोचता ही रहता है, करता कुछ नहीं, उसकी कलम में सच्ची ताक़त नहीं हो सकती!' (११-५-२९)

गांधीजी प्रवास के वक्त उद्योग मंदिरके भाईबहनों को जो पत्र लिखते वे सार्वजनिक याने सबके लिए होते थे, और हर एक आश्रमवासी उनके आदेशों के अनुसार अपने कार्यक्रम में सुधार करने की, कोशिश करता था। उन पत्रों में से दो यहां उद्धरित किये जाते हैं—

बालकों, और बालिकाओं !

तुम्हारा कोई ख़त नहीं। मुझे कई मर्तबा यह विचार आता है, कि तुममें से कौन मेरे साथ घूम सकता है ! घूमने का ख़ास मतलब तो यही होता है कि विद्यार्थी अथवा विद्यार्थिनी सेवा करने के लायक बने इस बारे में मैं इतनी ज़रुरतें अनुभव करता हूं—

(१) उम्मीदवार अपने इस वक्तके विचारों के मुताबिक सेवा करना चाहता है। (२) उसे चरखा सरंजाम का पूरा ज्ञान है; वह धुनता है, और बारीक मोटा, जैसा चाहिए, सूत कात सकता है। औजारों का ठीक ठीक उपयोग कर सकता है; सूत का तत्त्व निकाल सकता है; सूत की गिनतियाँ गिन सकता है। (३) उसकी अच्छी लिखावट है और वक्त पर वह काफ़ी तेज़ी से लिख सकता है (४) उसे बहुत से भजन याद हैं, और वह उन्हें वक्त पर गा सकता है, (५) खाने पीने में वह संयमी होना पसंद करता है, और उस संयम का पूरा पूरा पालन करता है, चाहे वह किसी भी ज़गह क्यों न पहुंच जाय। इनके अलावा दूसरी बातें तो तुम्हें सिखाने की ज़रा भी जरूरत नहीं। ये सब बातें तुम्हें और शिक्षकों सोचने के लिए है। अगर इनमें से एक भी काम में तुम हिचकिचाओगे तो मुझे अचरज होगा। मैं जानता हूं कि हम अभी उतने जागृत नहीं, जितना हमें होना चाहिए; ये सब तो तुम

सबों के लिए मामूली बातें हैं। १२ से १५ साल तक का कोई विद्यार्थी या विद्यार्थिनी ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसे गीता के श्लोक कंठस्थ न हों! अगर रोज़ एक श्लोक भी याद किया जाय तो दो साल में पूरा कंठस्थ होगा। बूंद बूँद से भी सरोवर भर जाता है—बापू का आशीर्वाद (७-१०-२९)'

बहनों,

तुम मुझे बार बार याद आया करती हो! मुसाफ़िरी में बहनों को देखता हूँ तो मुझे तुम्हारे काम का ख्याल आया करता है और इन विचारों का निष्कर्ष भी निकालता हूँ कि सच्ची शिक्षा तो हृदय की है; अगर हृदय में शुद्ध प्रेम रहेगा तो बाक़ी सब कुछ अपने आप सीखा जाएगा। सेवा का क्षेत्र असीम है, उसी तरह सेवा करने की शक्ति को भी असीम बनाया जा सकता है, क्योंकि आत्मा की शक्ति की सीमा नहीं होती! जिसके हृदय के द्वार खुल गये हैं, उसी के हृदय में सब कुछ समा सकता है! सेवा का अदना सा काम भी शोभनीय होता है। जिसका हृदय अवरूद्ध है उसका बहुतसा काम भी व्यर्थ प्रमाणित हो सकता है। इस बातका मतलब विदुर की भाजी और दुर्योधन के मेवा में भरा हुआ है—बापू के आशीर्वाद। (७–१०–२९)

इसी तरह आश्रम में रहनेवाले जिज्ञासुओं को भी गांधीजी के ख़त समय समय पर मिलते रहते थे; उनमें से नमूने के तौर पर कुछ यहाँ दिये जाते हैं।

'याज्ञिक (तपस्वी) को उद्योग करने पर आत्मदर्शन अपने आप हो जाता है, वही बात देशोद्धार की भी है। अगर हम सच्चे देशोद्धारक होंगे तो आत्मोद्धारक भी होंगे ही। 'देशोद्धारक' से भी नम्र शब्द 'लोकसेवक' है; अर्थात् सच्ची देशसेवा में ही आत्मसेवा और ईश्वर सेवा भी है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। (३–१०–२९)

'माता के प्रति तुम्हारी भक्ति मैं, समझ सकता हूँ। तुम्हारी अंतरात्मा जैसा कहे वैसा करो। इसी भक्ति को अन्तमें तो व्यापक सेवा में परिणत होना है। परन्तु ऐसा परिणाम बलात्कार से नहीं ला सकते। जब ऐसा होगा तब भी मातृभक्ति में न्यूनता नहीं होगी, पर वह भक्ति विशेष शुद्ध होगी। आज उसमें सात्विक मोह है—बापू के आशिर्वाद *

'शुद्ध समाधि अवश्यही शुद्ध सेवा होती है। मौन, सर्वश्रेष्ठ भाषण और सेवा है। पर उसे स्वाभाविक होना चाहिए। यह काफ़ी विकट रास्ता है और वह भी करोड़ों में से एक के लिए। इसमें आत्मप्रवंचना की बहुत संभावना है। समाधि मार्ग, राजमार्ग नहीं है। कर्म मार्ग स्वाभाविकरूप से जब समाधि की ओर ले जाय, तब ही जाना चाहिए अनुसरण कर्मों का होता है, समाधि का नहीं।

बापू के आशीर्वाद (२६-१०-२९)

चि० महादेव;

तुम बीमार हो जाते हो, यह मुझे सहन नहीं होता। अब तो बिल्कुल ठीक हो गये होगे। इन दिनों तुम्हें सेवा की भी मर्यादा करनी पड़ी होगी, और वह भी सेवा ही के लिए। यहाँ 'दैहिक धर्म' की कहावत के अमल होने की सम्भावना है। अंग्रेजीकी कहावत का वह अनुभव मुझे सच्चा मालूम होता है कि "सबसे ज्यादा कामकाज़ी आदमी को सबसे ज्यादा फ़ुरसत होती है।" इसका मतलब यही है कि, जिसने प्रामाणिकता से अपने कर्तव्य का पालन किया है उसे अमुक समय आराम करने का अधिकार भी है। उस जरूरी फ़ुरसत पर आलोचना करने का हक़ किसी को नहीं होता—

बापू के आशीर्वाद (२८-१०-२९)

राजकोट : २७-७-४५

---

* यह संदेश बापू के खुद के शब्दों में हैं; अनुवाद नहीं।—अनुवादक।



गांधीजी का मार्गदर्शन

● दिलखुश दीवानजी ●

(१) १९२५ के एप्रिल महिने में यकायक बंबई की 'राष्ट्रीय शाला' पर एक बड़ी आफत आ पड़ी। बंबई प्रांतीय कमेटी ने एकदम 'राष्ट्रीय शाला' को बन्द करनेका निर्णय कर दिया। सबसे ज्यादा दुविधा और ज़िम्मेदारी हम शिक्षकोंपर आ पड़ी। अगर और कहीं से सालाना बीस हज़ार रुपये की मदद होती तब ही आगामी जून में शाला का काम ज़ारी किया जा सकता था। हम मामूली अध्यापक इतनी बड़ी ज़रूरत कैसे पूरी कर सकते थे? तब ही हमें गांधीजी की याद आई; क्योंकि वे ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका राष्ट्रीय शिक्षण की ओर अपरिमित और स्वाभाविक प्रेम था। मैं अपने एक शिक्षक मित्र को साथ लेकर साबरमती पहुँचा। गांधीजी से, व्यक्तिगत रूप से मिलने का यह मेरा पहला मौका था; इसलिए उनसे रूबरू मिलने के लिए मैंने श्री० काकासाहब का आश्रय लिया। उस वक्त गांधीजी 'हृदयकुंज' में बैठे थे। सुबह का वक्त था; जहाँ तक मुझे याद है उस वक्त वे हज़ामत बना रहे थे। काकासाहब ने उनसे मेरी पहचान कराई, और साथ ही साथ हमारी राष्ट्रीय शाला पर आने वाली विपत्ति का भी कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। गांधीजी सब कुछ चुपचाप सुनते रहे। सुनने के बाद उन्होंने मेरी तरफ़ देखा और बोले—'आपने इस संकट के बारे में क्या सोचा है?' मैने जवाब दिया—'हमारा तो दृढ़ निश्चय है कि शाला को ज़ारी रखा जाय। जब तक राष्ट्रीय शिक्षण लेने के लिए एक भी विद्यार्थी तैयार है, हम उसे वापस कैसे भेज सकते हैं?' गांधीजी चुपचाप सुनते रहे। तब हमारी निष्ठा मापने के लिए प्रश्न किया—'तुम शाला को ज़ारी रखने के लिए कोई भेस लेने के

लिए तैयार हो? अगर जून मास तक रुपये का कुछ भी इंतज़ाम न हो सके तो तुम लोग भीख माँग सकोगे?' इस तीखे सवाल से हम कुछ चौंके तो सही; लेकिन सौभाग्य से, गांधीजी के पास आने के पहले ही हम सबों ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि किसी भी क़ीमत पर हम शाला को बन्द नहीं होने देंगे! मैंने उसी दृढ़ता से कहा—'हमने शाला ज़ारी रखने का निर्णय तो कर ही लिया है, और इसके लिए हम शिक्षकों ने अपने आप को पूरी तरह उसमें लगा देने का भी निश्चय कर लिया है। चाहे हम भीख माँग कर अपना निर्वाह करें, लेकिन शाला को बन्द न होने देंगे!' हमारे इस जवाब से गांधीजी को काफ़ी संतोष हुआ है, ऐसा हमें लगा, इससे हम उत्साहित भी हुए। तब गांधीजी ने हमें प्रोत्साहित करते हुए कहा—'ठीक है, मैं आज ही सरोजनी देवी (तत्कालीन बंबई प्रांतीय-काँग्रेसकी अध्यक्षा) को ख़त लिख देता हूँ कि इस साल बंबई प्रांतीय काँग्रेस कमेटी को, राष्ट्रीय शाला की मदद करनी ही पड़ेगी। कुछ दिनों में मुझे भी बंबई आना होगा, तब ही प्रांतीय कमेटी के कार्यकर्ताओं को बुला कर सब व्यवस्था करा दूंगा।' हमें भी उनके इस आश्वासन से खुशी तो हुई लेकिन हमें तो शाला की व्यवस्था हमेशा के लिए करनी थी, और हम खासकर बंबई में 'राष्ट्रीय समिति' की स्थापना के लिए उनके आशीर्वाद लेने आये थे। हमारी यह योजना सुनकर वे बहुत खुश हुए; बोले—'यह तो तुमने बहुत सुन्दर विचार किया है, कोई भी व्यक्ति या संस्था अपने पैरों पर खड़े होना चाहे, यह बात मुझे बहुत पसन्द है! मेरे सम्पूर्ण आशीर्वाद तुम्हारी इस योजना के साथ हैं; मैं रेवाशंकर भाई को लिखूँगा और उसे तुम्हारी संस्था के प्रधान ट्रस्टी बनाने की सिफारिश करूंगा तुम भी दूसरे शुभचिंतकों से बातचीत करते रहना!' हमने सोचा तक न था कि हमें ओर हमारे विचारों को यहाँ इतना प्रोत्साहन मिलेगा; उसी दिन हमने प्रणाम करके बिदा ली।

कुछ दिनों बाद वे बंबई आये और प्रान्तीय-काँग्रेस के कार्यकर्ताओं की बैठक बुलाई; हमें भी उसमें हाज़िर होने की सूचना मिली। उन्होंने उस बैठक में हमारी योजना की बहुत सुन्दरता से वकालत की और उस साल प्रांतीय-कमेटीने हमारी पाठशाला को १० हजार रुपये की मदद दी। उसी सिलासिले में हमने 'बम्बई राष्ट्रीय-शिक्षणसमिति, की स्थापना की, जिसके प्रमुख श्री० रेवाशंकर हुए थे।

(२) सन् १९३७ के एप्रिल में गांधीजी तथिल आये थे। कराड़ी की 'गांधीकुटीर' में रहने वाले मेरे विद्यार्थी भी मेरे साथ गांधीजी के दर्शन करना चाहते थे। हमे सूचना देकर ता. २२ एप्रिलको दोपहरके वक्त तीथल पहुँचे। गांधीजी भीतर के कमरे में बैठे थे; हम सब शांतिपूर्वक उनके आसपास बैठे गये। यों तो मुझे उनसे किसी खास विषय में बात नहीं करनी थी, लेकिन मुझे देखते ही गांधीजी ने श्री. लक्ष्मीदास द्वारा आविष्कृत पैर के चरखे और रुई धुनने की स्वदेशी मशीन की बात निकाली। उन्हें मालूम था कि मैं कराड़ी में रहकर खादीकार्य करता हूँ, इसलिए उन्होंने मुझसे कई धुनने की मशीन के तज़र्बे जानने चाहे। चरखा और रुई धुनने की बात उनके सबसे प्रिय विषय हैं। उनसे मिलने के लिए हमें सिर्फ़ दस ही मिनट का वक्त मिला था लेकिन उन्होंने इन मशीनों के बारे में इतने रस पूर्वक और बारीकी से चर्चा की कि पौने दो घंटे हो जाने पर भी उन्हें समय का ध्यान न रहा। गांधीजी का मूल आग्रह अपने हाथों, हस्तकारी के कामों की ओर होता है। इसलिए उन्हें ये नई मशीनें ठीक मालूम नहीं होती थीं। मुझे ठीक ठीक याद है कि इस बारे में उनके विचार इस प्रकार थे—(१) इस मशीन से पूनियाँ जल्दी तैयार होती हैं, इसका मुझे लालच नहीं; यों मिल में तो और जल्दी तैयार होती हैं! (२) अगर हमारी पुरानी तरकीबों से रुई में फैलाव नहीं होता तो हमें उसकी क्रिया में संशोधन और

सुधार करने चाहिए। दस्तकारी की हर एक कला में सुधार की ज़रूरत है। अगर हम तेज़ी के लालच में मशीनों की मदद लें तो उससे हमारी ग्रामोद्योग की क्रियाओं में सुधार और संशोधन का समय नहीं मिलेगा और हमें उसकी ज़रूरत महसूस नहीं होगी। (३) अगर हमने दस्तकारी के कामों में मशीन की ज़रा भी मदद ली तो हस्तकला नष्ट हो जाएगी। हाथ से धुनने की कला का नाश होने से हमारे उद्योग में जड़ता आ जाएगी। हमारी हस्तकारी की तारीफ़ यही है, कि उसके ज़ारी रहते वक्त स्फूर्ति रहती है। (४) और सबसे बड़ा ऐतराज़ यह है कि मशीन, कातनेवाले को परावलम्बी बनाती है और चरखे की महत्ता यही है कि वह अपने आप पर अवलंबित रहने के पुरुषार्थ को प्रकट करता है। इससे तो कातनेवाले भी 'पूनी' के फेर में पड़ जाएँगे। सब ही तो मशीन ख़रीद नहीं सकते, इसलिए हमारा पहला नियम नष्ट हो जाएगा जिसके मुताबिक रुई धुननेवाला ही सूत कात सकता है! उनके विचारों को मैंने अपने शब्दों में यहाँ वर्णित किया गया है!

(३) सन् १९३० में जब वे यरवदा जेल में थे, उस वक्त मुझे उससे पत्रव्यवहार करने का सौभाग्य मिला था। उन दिनों मैं विलेपारले की 'सत्याग्रह छावनी' में खादीकार्य सम्हालता था; उसी के बारे में मैंने उन्हें कुछ सूचनाएँ लिख भेजी थीं। उन्हें उस पत्र से ख़ूब सन्तोष हुआ। मुझे जैसे मामूली कार्यकर्त्ता की मामूली बातों में भी उन्होंने काफ़ी दिलचस्पी दिखलाई; जेल में होते हुए भी उन्होंनें मेरे काम के बारे में कई बारीक बातें मुझसे पुछवाई। यह था उनका ख़त—'भाई दीवानजी, तुमसे मिलने ही वाला था कि तुम दूर हो गये। दूर होते ही मुझे सुन्दर सूचनाएँ भी तुमने लिख भेजी हैं। चरखे और तकुली का कैसा उपयोग होता है? दोनों की औसत रफ्तार क्या, और कैसी है? औसतन चरखा और तकली रोज दिन में कितने वक्त तक जारी रहती है? सूत

की 'संख्या' और मजबूती कैसी होती है? खादी कितनी चौड़ाई की बुनवाते हो? बुनवाने की दर क्या देते हो? खादी वहीं धुल जाती है या किसी को देते हो? करघे कितने हैं? और कहाँ है? गोकुलभाई की तबियत तो ठीक है न?— बापू के आशीर्वाद।

(यरवदा जेल: ७–१–३१)

(४) सन् १९३१ में शुरू होनेपर हमारा पत्रव्यवहार उसके बाद भी काफी दिनों तक ज़ारी रहा। कराड़ी में मेरे शिक्षणकार्य में वे बहुत रस लेते हैं। वे भी एक शक्तिशाली और दूरदर्शी शिक्षक हैं, इसलिए, जो भी उन्हें मेरे कार्य से सन्तोष था फिर भी उन्होंने मेरे रास्ते में आई हुई मुश्किलों को जान बूझकर जल्दी दूर नहीं करना चाहा। वे चाहते थे कि मैं मुश्किलों से लड़ झगड़कर अपना विकास करूँ। मेरे खादीकार्य में पैसे की बहुत कमी महसूस होने लगी क्योंकि काम बहुत बढ़ गया था। मैंने इस बारे में गांधीजी को लिखा, जिसका जवाब यह है—'भाई दिलखुश, तुम्हारा काम मुझे इतना भला लगता है कि, इच्छा होती है कि तुम्हें पैसों की मुसीबत में न रहने दूँ। लेकिन मुझे लगता है कि मुश्किलों में रहते रहते आगे बढ़ने में ही तुम्हें लाभ होगा। और लक्ष्मीदास तो तुम्हारे साथ है ही। —बापू के आशीर्वाद

(सेवाग्राम, १६-१२-३९)।

ऐसे ही दूसरे एक ख़त में लिखा—, 'तुम्हारा ख़त बहुत छोटा था। जिस एकाग्रता से तुम कार्य कर रहे हो उसमें दूसरे विचार का अवकाश नहीं है। मैं तुम्हारी आर्थिक मुश्किलें दूर कर सकता हूँ। पर मेरा अभिप्राय है कि तुम बाधाओं के बीच रहकर अपना रास्ता निकालो, यही बेहतर है।—बापू के आशीर्वाद (सेवाग्राम, २३-५-४०)।

सचमुच मुझे उनकी यह सलाह जँचगई, और उसका नतीज़ा भी सुंदर ही निकला। नज़दीक के ही गाँव के एक श्रीमान ने ग़रीबों की मदद के लिए, बहुत प्रेम और आग्रह-पूर्वक मेरे नाम पाँच हज़ार का चेक भेज दिया। विपत्तियों से पराजित न होकर, बाधाओं का उठकर सामना करने में ही जीवन को प्रशस्त करने का रहस्य है; बाधाएँ ही जीवन को बनाती हैं, यह पाठ मुझे गांधीजी ने पढ़ाया है।

कराड़ी : २२-७-४५।



उनकी मनोव्यथा !

● श्री. रावजीभाई पटेल ●

सन् १९२१ में, लाहोर के काँग्रेस अधिवेशन के साथ ही साथ चरखा संघ की ओर से खादी-प्रदर्शन भी होने वाला था। मुझे प्रदर्शन के लिये चित्र, स्केच आदि तैयार करने थे। हमें ऐसे चित्र और स्केच चाहिये थे जो पढ़े बिना भी साधारण जनता की समझ में आ जाए। आश्रम में ऐसा कोई भी ऐसा चित्रकार न होने से यह काम बाहर के चित्रकार को सौंपा गया था। चित्र तैयार होकर आये, और वैसे बारह चित्रों का बिल १२०) आया। लाहोर के लिए रवाना होने के पहले मैं गांधीजी से मिलने के लिए गया; चित्र, स्केच वग़ैरह उन्हें दिखाये। यह सब देखकर उन्हें सन्तोष हुआ; बोले—'चित्र बहुत अच्छे हैं, किसने बनाये हैं ? क्या आश्रम का हो कोई चित्रकार है ?' वग़ैरह पूछा—कि मैंने कहा—'यहाँ तो कोई चित्रकार नहीं हैं, मैंने ये चित्र शहर में तैयार करके मँगाये हैं !' उन्होंने पूछा—क्या खर्च आया ?' मैंने बताया—'हरएक चित्र के दस रुपये के हिसाब से १२०) ख़र्च आया है !' मेरा ये जवाब सुनने के बाद मुझे लगा कि, मेरे जवाब से उन्हें कुछ दुःख हुआ है ! वे बोले —'ये चित्र तो किसी धनवान के घरको सुशोभित करने लायक हैं; धनिक लोग ही चित्रकार या कलाकार को इतने पैसे दे सकते हैं ! हम तो दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि हैं; हमें इतना खर्च करके चित्र तैयार करना अनुचित ही है।

चर्खा ही दरिद्रनारायण का मूर्त रूप है ! उसके लिए तो कम से कम कीमत में चित्र तैयार करने चाहिए। अगर हमने खादी-प्रदर्शिनी के निमित्त किसी से भी कहा होता तो, कोई न कोई तो मिल ही जाता !' इसी बीच उन्होंने एक सवाल और किया—'ये सब चित्र

कितने दिनों में तैयार हुए।' मैंने कहा—'दस बारह दिन लगे होंगे!' तब तो उन्हें और ज्यादा लगा—'यों तो मेहनताना रोज १०) हुआ। आज हिन्दुस्तान में कितने आदमियों को दस रुपये रोज़ मिलते हैं? कातनेवाले और बँजारे को क्या मिलता है यह तुमने कभी किसीसे पूछा है? उनसे पूछो कि उनकी एक दिन की कमाई कितने आने होती है? इस ग़रीब मुल्क में तो मज़दूरी की दर उतनीही रखनी चाहिए जिससे कोई भूखों न मर सके!' उसी समय बुननेवाले श्री. रामजीभाई आ गये। गांधीजी ने उनसे पूछा—'रामजी, तुम रोज़ कितने गज़ बुनते हो, और उससे तुम्हें क्या मिलता है?' वे बोले—'बापू, मुश्किल से महीने में १५–२० रुपये तक मिल जाते हैं। अगर लगातार काम जारी रहे, तब ही इतना मिलता है, नहीं तो इससे भी कम!' गांधीजीने मुझसे कहा 'देखो, सारे दिन काम करने पर भी रामजीको आठ आने से ज्यादा नहीं मिलते, और एक चित्रकार को एक दिन में दस रुपये मिल जाते हैं, यह कहां का उलटा इन्साफ़ है? अगर मेरी चले तो मैं हर तरह के मज़दूर की मजदूरी की दर एक आने घंटा ठहरा दूं, फिर वह चाहे वकील, डॉक्टर, सरकारी ऑफ़िसर या पुलिस का अधिकारी ही क्यों न हो! इस देश में हरएक व्यक्ति को आठ घंटे काम करना चाहिए। घरमें काम कर सकनेवाले हरएक व्यक्ति को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष आठ घंटे काम तो करना ही चाहिए।

(२) वे 'दांडी-यात्रा' के दिन थे। दांडी-यात्रा' के यात्रियों में बहुत से आदमी मानवोचित दोषोंसे रहित नहीं थे, फिर भी गांधीजी ने हमें अपने में निबाह लिया। उसी सिलसिले में एकबार एक व्यक्तिने उनसे पूछा—'आप नालायक यात्रीको अलग क्यों नहीं करते?' उन्होंने जवाब दिया—'मैं किसी का इम्तहान लेकर, उसे लायक या नालायक नहीं कहता, क्योंकि यह बात मेरे स्वभाव के विरुद्ध है!'

हम यात्रियों में, कई बार प्रसंग-वश ईर्ष्या, चोरी आदि विकार जागृत हो उठते थे। गांधीजी हमारे मन का मैल निकालने के लिए, बारबार प्रेम-पूर्वक अपने हृदय की वेदना व्यक्त करके हमें सचेत करते रहते थे। एक बार तो हद ही हो गई। उन्होंने, कई जगह, कई बार, हो जानेवाले दोषों का उल्लेख करके उस दिन प्रातःकाल की प्रार्थना में अपनी महाव्यथा व्यक्त की, जिसका सार इस प्रकार था—'आज मेरा हृदय व्याकुल हुआ है, क्यों कि मैं अपने में बहुत गंदगी देख रहा हूं। आज का भजन—'लज्जा मोरी राखो श्याम हरि' मुझे बिलकुल ठीक जँचता है। उसमें द्रौपदी की जो स्थिति बताई गई है वही हालत इस वक्त मेरी है। अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर जैसे पतियों और भीष्म, विदुर जैसे वयोवृद्धों के होते हुए भी द्रौपदी बुरी हालत में थी। उसी तरह अपने आसपास इतने साथियों के होते हुए भी मैं वैसी ही दुर्दशा में अपने को अनुभव कर रहा हूं। मुझे इस बात का दुःख नहीं है, क्यों कि इस संसार में ही मेरा एक मित्र है—और वह है ईश्वर। वही मेरे पीछे लगा हुआ है; अगर मैं उससे भागना चाहूं तब भी, वह मुझे छोड़ेगा नहीं। अभी तो मैं एक बड़े द्वन्द्व से जूझ रहा हूं। अगर खून की नदियाँ भी बह जाएं तब भी मैं अपनी युद्ध करने की प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हो सकता। इस युद्ध से पीछे कदम हटाते ही मैं भस्मी-भूत हो जाऊंगा। किन्तु मैंने साथियों से जिस बात की आशा की थी वह सफल नहीं हुई। मैंने नदी पार करने के बाद देखा कि जो कुछ हुआ है उसकी आशा मैंने कभी नहीं की थी; देखा वहां तो कुछ पहाड़ जैसा है। कोई हज़ारों का व्यापार, और पिता व कुटुंब को छोड़कर आया है, लेकिन फ़कीर नहीं बन सका। मूंगफली और दूध जैसी अदनी-सी चीज का परिग्रह (मोह) रखकर, और उसे मित्र को देकर उसे भी धोखा दिया; अगर वे चीज़ें वे मित्र को न देते, तो मित्र धोखा नहीं खाता। लेकिन मेरी महाव्यथा का आरम्भ तो यहां से होता

है कि—उन्होंने कहा कि—'दूध लोटे में से पी लेना!' और—उन्होंने कहा कि—'मुझे छुपकर दूध पीने को कहा था!' वे बोले—'मैंने छुपकर दूध पीने को कहा ही नहीं!' दोनों दृढ़ता से अपनी बात कहते हैं। मैं अब किसे झूठा ठहरा सकता हूं? एक सरल स्वभाव का लक्षाधिपति है और दूसरा सीधा-सा दीखनेवाला तेईस साल का नौजवान। जैसा पापी मैं हूँ, वैसे ही मेरे साथी भी हैं। ऐसा पापी होते हुए भी मैं साम्राज्य का नाश करने के लिए निकल पड़ा हूं, यह कहते हुए मैं शर्माता नहीं। आज के गीता के अध्याय में कृष्णने अर्जुन से क्या कहा है—'तू क्या करता है?—तू तो केवल निमित्त-मात्र है!' इसलिए मैंने जो भी निश्चय किया है उससे पीछे नहीं हटूंगा; लेकिन हृदय तो रोता ही है। इससे जो बचना चाहे, वह बच सकता है, और मुझे भी बचा सकता है; और जो इसमें नहीं रह सकता, वह चला जाय। उसी को मैं सच्चा मित्र समझूंगा। लेकिन खुद को और मुझे धोखा न देना। जिन नियमों को पालने का निश्चय किया गया है, वे न पाले जा सकें तो चले जाओ और रहना हो तो सच्चे बनो। संभव है कि जहां हमें पहुंचना है, वहां पहुंचने पर, ईश्वर की कृपा हो तो, सब कोई सच्चे बन गये होंगे, और महायज्ञ के लायक हो सकेंगे। लेकिन यह बात निश्चित है कि अगर हम सब शुद्ध न हुए तो हमें सफलता नहीं मिल सकती। यदि हम ८० में से आठ व्यक्ति भी शुद्ध हो गये तो सफलता निश्चित है।

(३) सरकार ने सन् १९४४ के मई महीने में गांधीजी को छोड़ा था। मैं उनके पहले, २२ वीं अप्रैल को ही जेल से छूटा था। एक आध महीने में वापस जेल जाने की बात मैं सोच रहा था। बहुत से मित्रों का मत था कि गांधीजी भी छूट गये हैं, इसलिए इस बारे में उनकी सलाह लेना जरूरी है। मुझे कुछ झिझक-सी होती थी, फिर भी साहस करके भाई कनु गांधी को लिखा कि—'पाँच मिनट के

लिए, बापू के दर्शन नहीं, मुलाक़ात का समय निकाल कर, उनसे जेल जाने, या न जाने की सलाह लेने के लिए उनसे मिलना चाहता हूँ' उन्हीं दिनों अखबारों में ख़बर छपी कि गांधीजीने, डॉक्टरों की सलाह से पन्द्रह दिनों के लिए मौन रहना शुरू किया है। क़रीब बारह दिनों के बाद मैंने फिर लिखा कि—'अमुक तारीख़ को मैं और शिवाभाई आ रहे हैं।' ख़बर मिलते ही गांधीजी ने कनु गांधी से कहा कि 'उन्हें तार कर दो कि अभी न आएँ।' लेकिन तार पहुँचे इतना समय शेष नहीं था। हमने वहाँ पहुँच कर कनु भाई के ज़रिये हक़ीक़त मालूम की। सान्ध्य-प्रार्थना समाप्त होने पर हम लोग प्रणाम करने के लिये गांधीजी के पास गये। उन्होंने हम दोनों के कंधे ठपका कर कहा—'इस बारे में प्यारेलाल से बात कर लेना और फिर मुझसे मिलने की ज़रूरत रह जाय तो ज़रूर मिलना। वह तुम्हें, जो कुछ कहने जैसा होगा, कह देगा।'

हम दूसरे दिन शाम को चार बजे जुहू पहुँचे, उस वक्त प्यारेलाल गांधीजी से बातें कर रहे थे। गांधीजी ने उनसे कहा—'जाओ, इनसे मिलकर बातचीत कर लो; वायसराय के साथ वाला पत्र-व्यवहार भी इन्हें बता देना !'

यह बात जब हमने दूसरे के ज़रिये मालूम की तो, हमारे हृदय में अनेक तरह के भाव उठे; हमें लगा कि गांधीजी छोटे बड़े सब को कैसी एक नज़र से देखते हैं !

प्यारेलाल ने हमें सब कुछ बताया, और बहुत देर तक बातें भी कीं, फिर भी कुछ विषय में खुद गांधीजी से बातचीत करना ज़रूरी था। उसके लिए हमने निश्चित समय ले लिया। दूसरे दिन ठीक चार बजे का समय होते हुए भी हम दस–पन्द्रह मिनट देर से पहुँचे। गांधीजी तो हमारी बाट जोहते ही बैठे थे। हमारे पहुँचने के पहले, दो तीन बार

उन्होंने हमारे बारे में पूछ भी लिया था। जब हम पहुँचे तब श्री. भूलाभाई देसाई और सेठ घनश्यामदास बिड़ला वहाँ मौजूद थे। हमें कहा– 'ज़रा ठहरो, मैं इन कामवालों से बातचीत कर लूँ।'

हमसे बातचीत हो रही थी, इसी बीच सुशीला बहन बोल उठीं – 'बापू, पाँच मिनट हो गये, अब बंद कीजिये!' गांधीजी बोले – 'मेरे हृदय में जो कुछ चल रहा है, वह इन्हें नहीं तो और किसे कहूंगा? आश्रम के पुराने आदमी हैं; ज़रा वक्त भी लग जाय तो कोई बात नहीं; सब बातें इन्हें अच्छी तरह समझानी चाहिएं; इस बात में ही तूने मेरे पाँच मिनट ले लिये!' फिर हम लोगों से कहा – 'तुमने जेल जाने की बात कही, वह ठीक है; लेकिन जब तक मैं बाहर हूँ तुम भी बाहर ही रहो तो ठीक हो। मैं नहीं जानता कि सरकार मुझे कब तक बाहर रखना चाहती है; जब मैं गिरफ्तार हो जाऊं तब जो तुम्हें ठीक लगे, करना। आठ अगस्त के प्रस्ताव के अंतिम भाग में साफ़ साफ़ बता दिया गया है कि वक्त पड़ने पर हरएक आदमी अपना नेता है!' इस तरह क़रीब आधे घंटे तक बातें होती रहीं। गांधीजी किसी भी वक्त छोटे से छोटे आदमी से कैसा व्यवहार करते हैं, इस बात का हमें इस बार ताज़ा और प्रत्यक्ष सबूत मिला।

भलाढ़ा, १२–७–४५।



महाबलेश्वर में !

● श्री. हेमन्तकुमार नीलकंठ ●

(१) ये संस्मरण गत अप्रैल या मई महीने (१९४५) के हैं। इसमें यद्यपि गांधीजी के साथ होने वाली बातों का शब्दशः विवरण नहीं है, तो भी मैंने जहाँ तक हो सका है उनकी बातों का भावार्थ ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न किया है। जब हम बंबई से महाबलेश्वर रवाना हुए, और पूना तक 'डेक्कन क्वीन' में यात्रा की, तब सख्त गर्मी थी। गांधीजी का बिस्तर थर्ड क्लास के डब्बे के जिस कोने में बिछाया गया था, वहाँ खिड़की न होने से उन्हें पसीना बहुत आने लगा, इसलिए सुशीला बहन ने पंखे से हवा करना शुरू किया। उन दिनों मैं, श्री० प्यारेलालके सहायक के तौर पर, गांधीजी के मंत्रिमंडल में नया ही नया शामिल हुआ था; इसलिए गांधीजी के साथ एक ही डब्बे में मुसाफिरी करने का यह मेरा पहला ही मौका था; इसलिए स्वाभाविक तौर पर मुझे अपने हाथों उनकी सेवा करने की बड़ी जिज्ञासा थी, मैं उसी की ताक में था! मैंने तब सुशीला बहन से कहा—'जब आपकी इच्छा हो, मुझे पंखा दे दें, मैं डाल दूँगा।' कुछ ही देर बाद उन्होंने मुझे पंखा दे दिया, और उस विश्ववंद्य विभूति की घंटे सवा घंटे अपने हाथों सेवा करने का अलभ्य अवसर मुझे जीवन में पहली बार मिला। मैं कमज़ोर हूँ फिर भी लगातार इतनी देर तक पंखा झलते रहने पर, मैंने जरा भी थकावट महसूस नहीं की, बल्कि उस वक्त के दरमियान जितना आनन्द मिला, उसकी याद आते ही आज भी पुलकित हो जाता हूँ। मेरी एकाग्र क्रिया और मुंह पर का श्रद्धा-भाव देखकर पास के एक सज्जन ने हँसते हँसते मुझसे कहा—'तुम इस तरह से पंखा कर रहे, हो कि मुझे हँसी आती है!' मैंने पूछा—'कैसे?' वे बोले—'जैसे माँ,

बच्चे के लिए करती है, उसी तरह तुम जरा भी रुके बगैर हवा किये ही जा रहे हो!' मैंने भी उसी तरह जवाब दिया—'पर मुझे तो मज़ा ही आता है, जरा भी थका या ऊबा नहीं हूँ!' वे बोले—'तो कोई हर्ज़ नहीं!' इस तरह उनकी इस बातचीत से मेरी लगातार क्रिया में बाधा तो हो ही गई। रेल तो पूरी रफ़्तार से आवाज करती हुई जा रही थी। गांधीजी सामने ही बैठे थे, और हम लोगों की बातचीत एक तरह से कान में ही हुई थी, लेकिन उन्हें जैसे हमारी शंका-विशंकाओं की भी खबर मिल गई हो उस तरह, हमारी बातचीत पूरी होते ही, इशारे से पंखा बंद करा दिया।

(२) मेरे एक विद्वान मित्र ने, मन को संबोधित करके, समर्थ रामदास स्वामी के 'मनाचे श्लोक' जैसे ही भुजंगी छंद में गुजराती भाषा में 'मनने' (मन से) नामक एक मौलिक काव्य लिखा था जिसे सस्ता-साहित्य-कार्यालय ने प्रकाशित किया है। मेरी इच्छा थी कि गांधीजी उसे पढ़कर अपना अभिमत दें। एक तो उन्हें यों ही कम वक्त मिलता है, फिर भी एक दिन मैंने ऐसे ही प्रसंगवश मौका निकाल कर वह पुस्तक उन्हें समर्पित की, और कहा-'अगर आपको यह पुस्तक ठीक लगी तो इसी रचयिता की दूसरी पुस्तकें मैं आपको भेंट करूंगा।' उन्होंने भोजन करते वक्त एक दो बहनों से गाने को कह कर, दो ही तीन दिनों में 'मनने' पूरी सुन ली। उन्हें उसमें के विचार बहुत सुहाये, और कवि की दूसरी कृतियाँ बताने को मुझसे कहा, लेकिन साथ ही यह भी कह दिया कि 'मन ने' के संगीत ने उन पर ज़रा भी प्रभाव न डाला। 'लेकिन बापू, जिन बहनों ने (वे विद्यार्थिनियाँ थीं) आपके सामने गाया है, उन्हें भुजंग छंद बराबर गाने नहीं आता। इससे ही आपको ऐसा मालूम हुआ होगा!'

'हो सकता है! तो इस बार तुम ही गाकर सुना देना, पर देखो, मैं ऐसे ही जल्दी पिघल जाने वाला नहीं हूँ। एक बार मैं शांतिनिकेतन

गया था। यों तो कवि अपने कमरे की प्रार्थना, भूमि पर ही गाते थे, लेकिन एक बार मेरे कहने से उन्होंने उसे मैदान में गाया। चाँदनी थी, खुला मैदान और एकान्त था। कवि ने अपना वही भजन—"अन्तर मम विकसित कर" गाया। महादेव तो कवि होने के कारण उछल ही पड़े! लेकिन मैं ? मैं तो उसका अर्थ—"मेरे अन्तर का विकास कर!" यही समझ समझ कर जितना हो सका सार लेता गया!"

मैंने कहा—'मैं भी संगीत की—ऐसे एकाकी संगीत की—प्रशंसा नहीं कर सकता; पहले तो कुछ नफ़रत भी थी। रमणकाका[1] भी इसके प्रशंसक नहीं रहे, ऐसा मुझे याद है।' गांधीजी कुछ चकित हुए—'यह बात है ? उन्हें भी नफ़रत थी ?'

'नहीं, नफ़रत तो नहीं थी; लेकिन वे कभी गाते नहीं थे! लेकिन उनकी लड़कियों में जो संगीत की क्षमता है, वह तो भोलानाथभाई के कुटुंब की देन है!'

(३) एक दिन सबेरे, बात ही बात में सुशीला बहन ने कहा—'आज अभी ही—का तार आया है!' थोड़ी ही देर बाद एक बहन ने आकर बताया कि बापू आपको बुला रहे हैं!' मैं झट उठकर गांधीजी के पास गया। उनके मुख पर स्पष्ट तेज, और आनन्द था। 'हेमंत कुमार, यह कैसी बात ?' मैंने पूछा—'क्या हुआ बापू ?' वे बोले—'यह तार लिखने वाला कौन है, कुछ याद नहीं आ रहा है। (उस तार में सही थी, लेकिन उन्हें, भेजनेवाले का परिचय याद नहीं आ रहा था) लेकिन जैसे ही तुम्हारा नाम लिया, और बुलाया, कि झट बिजली की चमक की तरह एक ही पल में सब कुछ याद आ गया।' ये शब्द इतने भावपूर्वक और आनन्द से कहे गये थे कि मुझे तो उस वक्त उन्हें झुक कर प्रणाम ही कर लेने की प्रबल इच्छा हुई।

१—सर रमणभाई नीलकंठ

(४) 'Lead Kindly Light' के गुजराती भाषान्तर के बारे में भी कई बातें जाननें को मिलीं! उन्होंने इस गीत का भावानुवाद चार प्रसिद्ध विद्वानों से कराने का निश्चय किया था, जिसमें लेडी विद्याबहन भी एक थीं। वह भाषान्तर अभी उनके पास है। भाषान्तर उन्हें 'मामूली' ही मालूम हुआ था; लेकिन 'प्रेमलज्योति' ही उन्हें ज़्यादा पसन्द होन से वही प्रकाशित हुआ। इसी बातचीत के दरमियान यह बात भी मालूम हुई थी कि स्वर्गीय नरसिंहराव पहले उनके विरोधी थे, लेकिन बाद में गांधीजी के निरपेक्ष प्रेम के कारण उनके प्रशंसक हो गये थे!

(५) लेकिन सबसे अधिक प्रेम और हृदय के आभार वाला संस्मरण यह है। डेढ़ महीने उनकी सेवा करने के बाद मैं अपने कुछ मित्रों के साथ प्रतापगढ़ देखने गया। इतिहास में तो वहां अफ़ज़ल खाँ का वध हुआ था, लेकिन मेरे शरीर को लम्बी बीमारी भोगनी पड़ी। थकावट इतनी महसूस हुई कि उसी वक्त बुख़ार चढ़ आया, और डेढ़ महीने गांधीजी की सेवा करने के बाद अब दो महीने आराम ले रहा हूँ। जब गांधीजी शिमला जाते हुए बंबई रुके तो मैं उनसे मिलने गया। मैंने तो निश्चय कर लिया था कि, उनसे कह दूँ कि 'आराम में ज्यादा वक्त लगेगा, न जाने कब मेरी तबियत ठीक हो! इसलिए आप मेरी जगह किसी दूसरे की व्यवस्था कर लें!' प्रायः यह वाक्य रटता हुआ सा मैं उनके पास पहुंचा और प्रणाम किया; जैसा ही खड़ा हुआ, उन्होंने पूछा— 'तबियत कैसी है?' 'अभी भी जैसी चाहिए वैसी नहीं है!' उन्होंने कहा— 'अभी जितना आराम लेना हो, ले लो। लेकिन खबरदार, जो मेरे पास आने के बाद फिर कभी बीमार हुए तो!' उनके साथ इतने कम समय का सम्पर्क होते हुए भी उनके असीम प्रेम, और दूसरे के बारे में इतनी चिन्ता-फ़िक्र और सावधानी का जो दर्शन उनमें मुझे इस तरह मिला है, उसका आनन्द तो, ऐसी किसी घटना का अनुभवी ही समझ सकेगा!

हरिजनों की सेवा में....

• श्री॰ परीक्षितलाल मजुमदार •

(१) सन् १९३२ के गांधीजी के उपवास के बाद, यरवदा जेल के दरवाज़े, हरिजन-सेवकों के लिए खुल गये थे । उनसे गुजरात और काठियावाड़ की हरिजन प्रवृत्ति के बारे में बातचीत करने और सलाह लेने के लिए श्री॰ नानाभाई भट्ट के साथ मैं भी गया था । विख्यात आम के पेड़ के नीचे बातें हो रही थीं । उस वक्त जेल के एक अफ़सर भी वहीं आकर बैठे थे । पास ही अंगीठी पर एक कैदी गांधीजी के लिए पानी गरम कर रहा था । पानी अच्छी तरह गरम हो जाने पर उसने अंगीठी पर से बर्तन उठा लिया । तब गांधीजी की नज़र अंगीठी में जलते हुए कुछ कोयलों पर पड़ी; उन्होंने अपनी बातचीत रोक कर, अंगीठी बुझा देने को कहा । उस अफ़सर ने तब मज़ाक में कहा—'कोयले तो सरकारी हैं, आप इतनी फ़िक्र क्यों कर रहे हैं ?' गांधीजी ने झट जवाब दिया—'नहीं, ये तो आम जनता के पैसों के कोयले हैं !'

(२) सन् १९३४ की हरिजन-यात्रा में एकबार तीसरे दर्ज़े के डब्बे में गांधीजी के साथ घूमने वाली एक छोटी लड़की ने मुझसे पूछा—'मेरा कितना टिकट लिया है ?' मैंने कहा–'आधा'! उस वक्त मुझे यह ख़याल नहीं आया कि उस लड़की की उम्र बारह साल के क़रीब होगी । उसी वक्त गांधीजी ने मुझसे कहा–'अब अगली स्टेशन पर बाकी के आधे टिकट के पैसे चुका देना !'

(३) सन् १९४४ में एक बार एक हरिजनबन्धु के केस के बारे में मुझे गांधीजी से सलाह लेने का मौक़ा मिला । मैंने उन्हें बताया कि अगर हम शुद्ध सत्य को लेकर ही बैठे रहेंगे तो वक़ीलों के कहे मुताबिक केस जीतने की ज़रा भी आशा नहीं है !' वे बोले–'भाई, अगर सत्य

के लिए फाँसी पर भी चढ़ने का मौक़ा आए, तो हम बचने की कोशिश नहीं करेंगे !'

(४) 'हरिजन-यात्रा' के दिनों में एक दिन गांधीजी को सिर के बाल कटाने थे। कटे हुए बालों को पालथी पर इकट्टे करने के उद्देश्य से उन्होंने मुझसे अख़बार माँगा। मैंने ग़लती से समझा कि हजामत के दरमियान शायद वे अख़बार देख लेना चाहते होंगे, इसलिए मैंने उसी दिन का अख़बार दे दिया। उस दिन उनका मौन-दिवस था इसलिए कुछ न कहकर उसी को उपयोग के लिए रख लिया। हजामत हो जाने के बाद मुझे लिखित सूचना दी कि 'बाल ठीक जगह डाल दिये जायँ, और अख़बार झटककर योग्य जगह पर वापस रख दिया जाय।'

(५) गांधीजी के, सेवाग्रामवासी, एक निकट के साथी के विवाह-अवसर पर गांधीजी के एक धनिक मित्र ने एक क़ीमती ज़ेवर भेंट करना चाहा। दूल्हे के, उसे लेने से इन्कार करने पर, वे सज्जन शिकायत करने लिए गांधीजी के पास आये, बोले—'वे यों ही तकल्लुफ़ कर रहे हैं। उपहार नहीं लेते।' गांधीजी ने तलाश करके वह ज़ेवर देखने के लिए मांगा। ज़ेवर की तारीफ़ तो की, लेकिन दूल्हा अपनी इच्छा के वग़ैर उपहार नहीं ले सकता, इस बात का समर्थन भी किया। बात निबट गई है, यह समझ कर वे सज्जन ज़ेवर गांधीजी से वापस लेने लगे। गांधीजी ने कहा–'लेकिन अब तो यह हरिजन का हो गया है; वापस नहीं मिल सकता।' वे सज्जन यकायक कुछ बोल न सके; उस ज़ेवर को गांधीजी के पास ही रहने देकर, उनकी बात मंजूर सी करके, नमस्कार करके चले गये। पीछे से गांधीजी ने कहलाया कि– 'जेवर ले जाइये, लेकिन उसकी क़ीमत जितने रुपये 'हरिजन फंड' में भेज दें!' दूसरे ही दिन उन्होंने जेवर की क़ीमत से भी ज्यादा रक़म का चेक भेज दिया।

(६) १९३४ की हरिजन-यात्रा के दिनों में एक शाम को, एक बड़े स्टेशन पर यात्रियों के झुंड ने गांधीजी के डब्बे को घेर लिया। गांधीजी 'हरिजन फंड' के लिए हाथ फैला फैला कर पैसे मांगते थे। पैसे मिलते हीं वे अन्दर वाले को देकर फिर बाहर हाथ फैलाते थे। झुंड में से एक दानी ने ५० की नोटें गांधीजी को दीं; लेकिन गांधीजी पैसे लेकर अन्दर हाथ ला ही रहे थे कि भीड़ बहुत बढ़ गई, वे हाथ की नोटें भीतर बैठे हुए साथियों में से किसी ने लीं या बाहर गिर पड़ीं, इस बारे में शंका उत्पन्न हुई। गाड़ी रवाना हो जाने के बाद गलती ढूंढने की कोशिश की। गांधीजी चाहते थे कि ग़लती मालूम हो ही जानी चाहिए। आखिरकार शंका के निवारण बिना ही उस रोज़ का हिसाब बंद करना पड़ा।

(७) हमारा नियम था कि हरएक स्टेशन पर मिलनेवाली रकम का सिक्के और नोटों को अलग करके हिसाब लिखा जाय। अगर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन के बीच यह काम हो जाता तब ही आराम मिलता था। एक दिन सवेरे के अंधेरे में गांधीजी, चलती गाडी में सर प्रभाशंकर पट्टणी के दिये हुए सलून के उजाले में कुछ पढ़ रहे थे। हम सब पिछले स्टेशन के पैसों का हिसाब करके अगला स्टेशन आने की राह देख रहे थे। यकायक गांधीजी किताब छोड़कर शौच के लिए उठे, और कुछ ही क़दम चलने के बाद, बत्ती जल रही है यह ख़याल आते ही, वापस लौटकर बत्ती बंद कर, फिर चले गये। हम सब ख़ाली हाथ बैठे थे, फिर भी उन्होंने इतना छोटा-सा काम अपने हाथों ही किया।

साबरमती, २-८-४५



बीमारी सफल कैसे हुई ?

● श्री० उत्तमचन्द शाह ●

(१) जब आदमी बीमार होता है, तो साधारणतया विधाता को दोष देता है, लेकिन मेरी बीमारी तो एक तरहसे विधाता के आशीर्वाद रूप ही साबित हुई, बीमारी के ही कारण मेरा गांधीजी से परिचय हुआ। सन् १९२५ में, मैं ख़तरनाक़ बीमारी का शिकार हुआ; डॉक्टरों को मुझ में तपेदिक के चिन्ह दिखाई दिये। कई मित्रों ने गर्मी में मुझे आबू की पहाड़ियों पर जाने की सलाह दी, और उस मुताबिक़ मैं आबू के लिए रवाना हुआ; बीच में एक रात साबरमती आश्रम में बिताने का निश्चय किया था। आश्रम में शाम की प्रार्थना के बाद गांधीजी अपनी कुटी के आँगन में खाट पर लेटे हुए थे, वहीं मैं उनसे मिलने के इरादे से घूमता घूमता पहुँच गया। उनके पैरों के पास बैठे कुछ ही क्षण हुए होंगे कि मैं चक्कर खाकर वहीं बेहोश हो गया; कुछ मिनटों के बाद जब मुझे होश आया तो गांधीजीने बिस्तर से मेरे बारे में जानकारी हासिल की; मेरे आबू जाने के इरादे पर हँसकर उन्होंने कहा—'ऐसी बीमारियों में जगह के बजाय देखभालसे तबियत ज्यादा सुधरती है। तुम्हारी बातों से मालूम होता है कि कोई अनुभवी आदमी तुम्हारे पास नहीं है, इसलिए आबू जाने का विचार छोड़कर यहाँ आश्रम में ही कुछ दिनों के लिए रह जाओ!' उस वक्त मेरी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मैं और ज्यादा सोचविचार करता; मैंने वहीं रहने का विचार कर लिया। उसके बाद गांधीजीने जिस उत्साह और स्नेह से मेरी देखभाल की, उसे देख कर तो मैं चकित ही रह गया। उनके घूमने जाने के रास्ते पर ही मुझे रहने की जगह मिली थी। वे रोज़ शाम की प्रार्थना के बाद घूमने जाते थे और लौटते वक्त मुझे देख कर जाते थे। वे रोज़ बारीकी के

साथ मेरी तबियत के बारे में पूछते, और नियमित रूपसे जीभ देखते और पाखाने की जाँच भी करते थे, जिससे कि वे मुझे, कब और कैसा भोजन लूँ, इस बात की जानकारी देते रहें। मेरी परिचर्या करने वाले को भी अपनी कसौटी पर परखना वे भूलते न थे। एक बार उन्होने मेरी पत्नी से पूछा—'तुम साबूदाने की खीर कैसे तैयार करती हो?' वह बोली—'साबूदानों को साफ़ करके उन्हें दूध में डालकर पका लेती हूँ!' इतना कह कर जाती कहाँ? गांधीजी ने कान पकड़ कर हम सबोंको हँसाया और बोले—'पहले साबूदाने पानी में चढ़ाकर फिर उनमें दूध डालकर गरम करना चाहिए, जिससे दूध को ज्यादा देर तक चूल्हे पर न रखना पडे; अगर शुरू से दूध में ही साबूदाने चढ़ाये जायँ, तब तो उबाला हुआ दूध बीमार को काफ़ी नुकसान करेगा।' उसके बाद तो सुबह कटिस्नान, सिर और पेट पर मिट्टी का लेप, भोजन में दूध और फल वग़ैरह कुदरती इलाज़ शुरू हुअे। शुरू शुरू में तो मुझे मालूम ही न हो सका कि मेरी तबियत सुधर रही है या बिगड़ रही है; पर गांधीजी हमेशा कहते रहते थे कि 'तुम जल्द ही चंगे होनेवाले हो!' उसके बाद वहाँ डॉ. तलवलकर आये और मुझे अपनी बीमारी के बारे में बहुत सी क़िताबें पढ़ने को मिलीं। उन किताबों ने मुझे बीमार की ज़गह, उस बीमारी का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी बना दिया। मैं अब थोड़ा थोड़ा जानने लगा था कि मरी तबियत सुधारने के कौन से तरीक़े हैं; अपनी खुराक़ और क़सरत वग़ैरह का निर्णय मैं खुद ही करने लगा। मैं वहाँ आया तो था साधारण बीमार बन कर ही, लेकिन उस अध्ययन और वातावरण से मुझमें इतनी योग्यता आ गई थी कि अपने जैसे दूसरे रोगी को इलाज़ के बारे में सलाह दे सकूं। गांधीजी जिस तरह से आदमी को समझदार बना देते हैं उस ढंग के वे बहुत बड़े शिक्षक भी हैं। शुरू शुरू के दिनों में तो वे रोज़ शाम को प्रार्थना के पहले मुझे देखने के लिए आते थे, और वक्त हो जाने

पर रोज़ उन्हें प्रार्थना के लिए दौड़ना पड़ता था। मैंने उनसे कहा—'आप इस तरह तक़लीफ न उठाएँ, मैं बिलकुल ठीक हूँ, और अगर कोई खास बात होगी तो मैं आपको कहला भेजूँगा।' पर वे ऐसे कब मानने वाले थे? रोज़ खुद आकर खबर लेते और वक्त हो जाने पर घड़ी में देखकर बोलते—'अब मैं भागता हूँ!' और जल्दी जल्दी जाकर वक्त पर प्रार्थना में शामिल होते थे। कुछ ही दिनों बाद उन्हें दिल्ली जाने का मौक़ा आया। नियमानुसार एक दिन पहले शाम को मेरे पास आये और कहने लगे—'उत्तमचन्द, मुझे कल दिल्ली जाना है; इसलिए तुमसे भी छुट्टी ले लेनी चाहिए; और तुम्हें तो कुछ ही दिनों में भले चंगे हो ही जाना है!' मुझे कहने की इच्छा हुई कि इसमें मुझसे छुट्टी लेने की क्या ज़रूरत? इतने कामों के बोझ के बावज़ूद मेरी चिंता की उन्हें क्या ज़रूरत है? मैंने कहा—'बापूजी मुझे विश्वास हो गया है कि मैं अच्छा हो जाऊँगा! वे बोले—'बिलकुल ठीक है!' फिर मुझसे 'ऑटोसजेशन' के बारे में बातचीत की, और उनकी आठ महीने की देखभाल और इलाज़ के बाद मैं चंगा हो गया। मुझे अभी भी सन्देह है कि अगर गांधीजी का आसरा नहीं मिलता तो मेरी तबियत का क्या होता। एक रोज़ तबियत ठीक हो जाने के बाद मैं घर के बाहर टहल रहा था कि गांधीजी आ पहुँचे और हँसते हँसते पूछा—'क्यों, अब मेरे साथ मैदान में आना है!' यह कहकर आस्तीन चढ़ाने का अभिनय सा करते हुए उन्होंने जैसे मुझे फिर से तन्दुरुस्तों की दुनिया में आने के लिए आह्वान किया।

(२) इसी अर्से में आश्रम के एक सज्जन को 'एपेन्डिसाइटिस' हुआ; खबर मिलते ही गांधीजी उनके पास आये और उन्हें अहमदाबाद के डॉ. हरिभाई देसाई के पास जाकर ऑपरेशन कराने की सलाह दी। डॉ. देसाई ऑपरेशन के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। लेकिन स्वयं बीमार की इच्छा बम्बई के डॉ. दलाल के हाथों ऑपरेशन कराने की थी। उन्होंने अपनी

इच्छा गांधीजी से ज़ाहिर की, और कहा—'थोड़े ही दिनों पहले भाई देवदासने भी तो डॉ. दलाल से ही ऑपरेशन कराया था, इसलिए मुझे भी वहीं जाना चाहिए।' गांधीजी कुछ देर सोचते रहे, फिर बोले,—हम लोग तो ग़रीब ठहरे, इसलिए ज़ो डॉक्टर नज़दीक और सस्ता मिले, उसी से ऑपरेशन कराना चाहिए। मेरा बस चले तो हम गंगाबहन की पुड़िया से ही काम चला लें; और डॉ. देसाई का हम लोगों के प्रति प्रेमभाव भी है, यह भी एक मुख्य कारण है। तुमने देवदास की जो बात कही, उसमें मैंने उसके ऑपरेशन का इंतिज़ाम कब किया था? देवदास दिल्ली से सीधा वहाँ गया, और उसने अपने आप सब व्यवस्था कर ली।* अगर हम तुम्हारे कहे मुताबिक़ व्यवस्था करें तो ग़रीबी की बात ही छोड़ देनी चाहिए!' गांधीजी की ये दलीलें ज़ारी ही रहीं। वे सज्जन अगर आश्रम में न होते तो डॉ. देसाई के पास जाते या नहीं इस में शंका है। मुझे भी उनकी बात अयुक्त सी लगती थी। लेकिन गांधीजी ने ज़रा भी ऊबे बग़ैर मुझसे कहा—'उत्तमचंद, मैं इन्हें कैसे समझाऊँ? हम जैसों को, जिन्होंने अपनी मर्जी से ग़रीबी को अपनाया है, जो कुछ मिले उसी से काम चलाते रहना चाहिए। मैं दक्षिणआफ्रिका की बात कहता हूँ। देवदासके जन्म का वक्त था, 'बा' को दर्द का दौर शुरू हुआ। वहाँ आसपास कोई डॉक्टर नहीं था, और इतना समय भी नहीं था कि दूर से डॉक्टर बुलाया जाता; उस वक्त मैंने अपने हाथों देवदास को जन्म कराया। अगर हम इस तरह डॉक्टरों को ढूँढ़ते फिरें तो काम कैसे चले? आख़िरकार वे सज्जन डॉ. देसाई के हाथों ऑपरेशन कराने पर राज़ी हुए। उनका ऑपरेशन सफल हुआ और कुछ ही दिनों में वे बिलकुल चंगे हो गये।

---

*देवदास के ऑपरेशन के वक्त या उसके बाद, गांधीजी साबरमती से बंबई, उस बारे में कभी नहीं गये थे। ऑपरेशन करने से देवदास का संकट टल गया था, जिसकी खबर तार द्वारा गांधीजी को दे दी गई थी।

—संपादक

(३) जब, सन् १९३८ में गांधीजी कुछ समय तक बारडोली-आश्रम में रहे थे, तब की यह बात है। गांधीजी की मंडली की एक सदस्या कु. शारदा बहन की सगाई सूरत के एक कार्यकर्ता श्री० गोरधनदास चोखावाला से करना निश्चित किया गया। गांधीजी, सरदार पटेल, दक्षिण-आफ्रिका के मि. कॅलेनवेक वगैरह की उपस्थिति में पू. कस्तुरबाने श्री० चोखावाला को कुंकुम का तिलक लगाया। सगाई की सब विधि सम्पन्न हो जाने के बाद श्री० कॅलेनवेक एकदम उठे, और श्री० चोखावाला के पास आकर उनकी अभ्यर्थना की। मि. कॅलेनवेक तो आजन्म अविवाहित थे। सरदार पटेल ने मौक़ा देखकर मज़ाक कसा—'इसमें आपको इतनी उमंग किसलिए हो रही है, आप तो कुँवारे हैं!' यह सुनकर और आसपास वाले सब हँस पड़े! मि. कैलेनवेक यों ही हार मानने वाले न थे; उन्होंने गांधीजी की तरफ़ इशारा करके कहा—'मैं तो इस आदमी के पाप से, ऐसा ही रह गया हूँ!' सारी मंडली खिलखिला पड़ी। रंग जम रहा था; सबों की नज़र गांधीजी पर गई; उन्होंने अपनी सदा की मुस्कराहट से आख़िरी बात कह दी—'इसी लिए तो मैं ऐसे नये नये सम्बन्ध बाँधकर उस पाप का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ!'

(४) बारडोली से गांधीजी का आश्रम सेवाग्राम को गया, उसके कुछ ही दिनों बाद श्री. चोखावाला के विवाह का मुहूर्त निश्चित हुआ। गांधीजी ने सेवाग्राम से श्री. चोखावाला को ख़त (या कुंकुम पत्रिका) भेजा—'अकेले चले आना, हम 'दो' बनाकर भेज देंगे।' यह सीधा और सरल निर्णय देखकर सभी आश्चर्य करने लगेंगे, लेकिन उनके सब कामों का निर्णय भी इसी सरलता और शीघ्रता से होता है। श्री. चोखावाला को अकेले जाना कुछ जँचा नहीं, इसलिए वे अपने पाँच-सात मित्रों को बराती बनाकर ले गये, जिनमें भाई हरिवदन और रोहिणीबहन भी थे। गांधीजी को जब मालूम हुआ कि सात व्यक्ति

आये हैं, तो उन्हें विनोद सूझा; बोले—'ओहो सप्तर्षि आये हैं!' श्री. हरिवदन भी स्वभावतः विनोदी हैं; वे बोले—'बापू, ऋषि अकेले नहीं हैं, साथ में अरुंधती (रोहिणी) भी है!' इस तरह मज़ाक चलता रहा। हमें नोटिस मिली थी ठीक तीन बजे लग्न-सम्पन्न होगा; सबों को तीन बजने के पहले नहा धोकर और खा पीकर तैयार हो जाना चाहिए। हमें यह ख़बर भी मिल गई थी कि आज शाम को ही हमें बिदा मिल जायगी; यद्यपि हम सब, कुछ दिन ठहरने की तैयारी करके आये थे; वहाँ तो एक रात रहने की भी बात नहीं थी? आश्रम के पास के खेत में, अमरूद के पेड़ के नीचे, केले के चार पौधे लगाकर लग्न-मंडप तैयार किया गया! आम और आशापल्ली के पत्तों के बन्दनवार शुभ-प्रसंग की सूचना दे रहे थे। उन दिनों गांधीजी देशी-राज्यों की विचारणा में तल्लीन थे; उस बारे में बाहर से भी कई लोग मिलने के लिए आश्रममें आये थे। सब मंत्रणाएँ उनकी कुटिया में ही होती थीं। तीन बजने में दो ही मिनट बाकी थे कि गांधीजी उठे, और शारदाबहन तथा विजयाबहन को लेकर ठीक तीन बजे लग्न-मंडप में आये, और वधू के पिता के रूप में विवाह-विधि संपन्न की। ठीक ४५ मिनट में सब क्रियाएँ सम्पूर्ण हो गईं। लग्न के बाद जब नव दम्पत्ति बापूजी के चरण छूने आये तब गांधीजी के आशीर्वाद (या शाबाशी) से उन दिनों की पीठ लाल-सुर्ख़ हो गई। उन्होंने वर-वधू के दुपट्टे के छोर भी इतनी मजबूती से बाँधे कि वह गाँठ जीवनभर न खुल सके। बहुत से ग्रामीण भी देखने आये थे; जिनमें शहनाई और ढोल वाले भी थे। उन्होंने शहनाई और ढोल बजाने के लिए पूछा। गांधीजी ने कहा—'खुशी से।' बरातियों और दूसरे मेहमानों को इस मांगालिक अवसर पर गन्ने का रस, गुड़ और मूंगफली खाने को मिली। गांधीजी विधि समाप्त करके तुरन्त अपनी कुटिया में चले गये और फिर गंभीर मंत्रणाएँ शुरू हो गईं!

सावरमती : २-८-४५

गांधीजी के ' गुरु '

● श्री. किशनसिंह चावड़ा ●

गांधीजी पंचगनी में जिस बंगले में रहते हैं उसका ' दिलकुशा ' नाम सार्थक है। उन्होंने अपने रहने के लिए जो आँगन पसन्द किया है, वह बंगले का सबसे सुंदर हिस्सा है। वहाँ से जो चित्रांकित-सा सुरम्य दृश्य दिखाई देता है, वह सचमुच हृदय के द्वार खोल देता है। पूर्व दिशा की विशाल और गहरी खाई में छाई हुई सुन्दर हरियाली आँखों को स्थिर बना देती हैं; दूर खाई के एक किनारे पर मनुष्य के अंतःकरण के समान एक छोटासा ग्राम शांति से स्थित है। दूसरी ओर, किसी परमहंस के जीवन-प्रवाह जैसा एक झरना बह रहा है—शांत और अल्हड़। सामने आँखों को हरियाली से भर देनेवाली पाश्चिमीघाट की पर्वत माला है। यह सब शांत और ललित सौंदर्य आँखों और हृदय को स्थिर शांति में डुबो देता है। इन दिनों पंचगनी में घन-घोर वर्षा होती है, लेकिन कम से कम गांधीजी के साथी तो इतना जानते ही हैं कि वे जिस शांति के लिए यहाँ आते हैं वह उन्हें मिल जाती है। गांधीजी के साथ बातचीत करते वक्त मनुष्य इतना तल्लीन हो जाता है—उनकी विभूति पर इतना मनोमुग्ध हो जाता है कि उसे अपने आसपास के वातावरण का ख़याल भी नहीं रहता। जब गांधीजी ने मुझे बुलाया, उस वक्त उनके लिए भोजन की तैयारी हो रही थी। मुझे एकान्त मिले इसलिए उन्होंने श्री. प्यारेलाल और राजाजी को भोजन करने के लिए भेजा, और रोज़ भोजन कराने वाली दुर्गाबहन को भी बाहर भेज दिया, इस लिए हमारी बातचीत के वक्त गांधीजी को भोजन कराने का सौभाग्य मुझे मिला। उस वक्त उनकी मेज़ पर रखी हुई एक वस्तु ने मेरा ध्यान आकर्षित किया—वह था

सिर्फ़ काँच का एक खिलौना। मैंने उसे पहले देखा भी था। दूसरी जगह शायद् उसने किसी का भी ध्यान आकर्षित न किया होता। वह खिलौना तीन बन्दरों का था। तीनों बन्दर एक दूसरे से सटकर बैठे थे। पहले बन्दर ने दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँप लिया था। दूसने ने दोनों हाथों से दोनों आँखें बंद कर रखी थीं। तीसरे ने आपने दोनों कान दबा रखे थे। गांधीजी अपना खाना क़रीब क़रीब ख़त्म कर चुके थे। और हमारी मुलाक़ात का वक्त भी लगभग पूरा हो चुका था। मैं उन बन्दरों को इस तरह रखे जाने का कारण गांधीजी से पूछने से अपने को नहीं रोक सका। इस खिलौने को देखने से जो साधारण ज्ञान होता है, इसी लिए इसे यहाँ रखा गया है, या और कोई गूढ़ रहस्य है? मेरा मन पूछने को ललचा उठा; पूछा—'बापू, यह खिलौना यहाँ मेज़ पर क्यों रखा है?

उन्होंने कुछ देर ठहर कर गंभीरता से उत्तर दिया—'ये तीनों मेरे गुरु हैं!'

मैं, गांधीजी के मुँह से बड़ा से बड़ा आश्चर्य सुन लेने का अभ्यस्त हूं, इसलिए एकदम नहीं चौंका लेकिन खिलौने के लिए उनका दृष्टि-कोण जानने की उत्कंठा और तीव्र हो गई। मेरे चेहरे की जिज्ञासा को साफ़ साफ़ देखकर उन्होंने कहा—'आज मुझे ठीक ठीक तो याद नहीं है लेकिन शायद कई साल पहले यह चीज़ एक चीनी ने सेवाग्राम में महादेव (देसाई) को दी थी और महादेव के पास से यह मेरे पास आई। बहुत सी श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण निधियाँ अभी भी चीनी संस्कृति में जीवित हैं; यह भी वैसी ही एक सुन्दर चीज़ है। यह मामूली खिलौना भी एक बहुत बड़ी बात कह देता है, जो दैनिक जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

मैं चुपचाप सुन रहा था; वे बोले—'पहला बंदर, जिसने अपना

मुँह ढाँप रखा है, कहता है—कभी भी असत्य न बोलो, न किसी की निंदा करो। दूसरा बंदर, जिसने अपनी आँखें बंद कर रखी हैं, कहता है—अपनी आँखों से कोई भी खराबी न देखो!' यहाँ वे कुछ देर रुक गये, फिर धीरे से बोले—'जब मैं घूमने जाता हूं तब मेरा हाथ हमेशा किसी के कंधे पर होता है, मैं उससे कह देता हूं कि "देखना, मेरी आँखें बंद हैं, मुझे सम्हाल कर ले जाना" 'और इस बात से मुझे शांति और बल मिलता है।'

'और तीसरा बन्दर हमें सिखाता है', उन्होंने उसी शांति और गंभीरता से कहा—'कि हम किसी की बुराई या निन्दा न सुनें। कितना बड़ा उपदेश है यह! कान का दुरुपयोग, आदमी के मन का चैन छीन लेता है, और हृदय को अक्षम्य अपराधी बना देता है। हम सबों को जिंदगी में एक बार तो ऐसा अनुभव होता ही है!'

गांधीजी खाना खा चुके थे; मैंने उनके हाथ धुलाये। हाथ पोंछते पोंछते उन्होंने कहा—'इस खिलौने को मैं कलामय वस्तु कहता हूँ। इसका सिर्फ़ बाहर का ही रूप खूब सूरत नहीं है, इसका अन्तरमय भाव भी मनुष्य जाति के लिए कितना लाभदायक है। जो कला मानव जाति को ऊंचे नहीं उठा सकती, जो कला मनुष्यता का कल्याण नहीं कर सकती, उसे 'कला' नहीं कहा जा सकता। कला तो मनको पवित्र करके आत्मा को उज्ज्वल बनाती है। इन बंदरों को मैं ज्ञान-पूर्वक 'गुरु' कहता हूँ और जहाँ जाता हूँ उन्हें साथ ले जाता हूँ। मुझे पल पल पर ये अपनी बात कहते रहते हैं!'

आभा बहन, दोपहर के विश्राम के लिए गांधीजी का बिस्तर ठीक कर रही थीं और राजाजी पूना जाने के लिए गांधीजी की आज्ञा लेने आये थे। प्यारेलाल की आँखें कह रही थीं कि मैं अब उन्हें आराम करने दूँ। मुझे ज़रूरत से ज्यादा मुलाक़ात का समय भी मिल चुका था। अंत में मैंने प्रणाम करके उनसे बिदा ली।

पंचगनी: ९-७-४४

‘दूध में शक्कर की तरह मिल जाओ’

● श्री. शिवाभाई पटेल ●

(१) गांधीजी ने जब पहले पहल आश्रम शुरू किया तब मैं आणन्द (गुजरात का एक शहर) में पढ़ रहा था। मुझे शुरू से ही आश्रम को देखने की इच्छा थी; एक बार यात्रा के दौरान में कुछ कुछ देखा भी था। उसके बाद जब विद्यापीठका अभ्यास समाप्त होने को आया तब इसी अर्से में एक बार आश्रम में रहकर वहाँ का अनुभव लेने का विचार हुआ। मैंने विद्यापीठ में से ही गांधीजी को एक खत लिखा। यद्यपि विद्यापीठ से आश्रम डेढ़ ही मील पर था, लेकिन वहाँ जाकर पूछने में कुछ सकुचाता था। कई दिनों के इंतज़ार के बाद आनिश्चित-सा जवाब मिला। मैंने दूसरा ख़त लिखा, तब गांधीजी ने मुलाक़ात का समय दिया। शाम को घूमने के वक्त उनसे मेरी बातचीत हुई। उन्होंने खुद बात शुरू की, इसलिए मेरी झिझक कुछ कम हुई; मुझसे पूछा—‘यहाँ पाखाने की सफ़ाई का काम भी करोगे न?’ मैंने स्वीकार किया। अंत में वे बोले—‘यहाँ आनेपर आश्रम के कुटुम्ब से दूध में शक्कर की तरह मिल जाना!’ यह वाक्य मानों अभी भी कानोंमें गूँज रहा है, और उसका महत्व भी दिनोंदिन और ज्यादा साफ़ होता जाता है।

(२) सन् १९२७ की गर्मी का ज़िक्र है। गांधीजी की तबियत ठीक हो जाएगी इस आशा से एक प्रांत के प्रवास का कार्यक्रम निश्चित किया गया था; लेकिन तबियत में सुधार नहीं हुआ। उस प्रान्त के मुख्य कार्यकर्ता भी आ पहुँचे थे। उन्होंने आख़िरकार निश्चित किया कि लोगों को गांधीजी के नहीं आने की सूचना दे दी जाय। जब गांधीजी ने यह सुना तो बोले—‘तुम सबों ने कार्यक्रम मुल्तवी रखा यह तो ठीक, लेकिन प्रांत के लोगों का क्या होगा? तुमने इसका

विचार किया है कि वे कितने निराश होंगे ? उनका कितना वक्त और पैसा बरबाद होगा ? एक तरफ़ हम गरीबों की सेवा करनेका दम भरते हैं, उनके हित की बातें करते हैं और दूसरी तरफ़ तबियत की ख़राबी की बात करके उनके लिए निश्चित किये हुए कार्यक्रम को रद्द कर दें, और लाखों को निराश करें, यह कहाँ का न्याय है ? मान लो कि मुझे वायसराय का निमंत्रण आया है, तब तुम मुझे क्या कहोगे ? हाँ, तब तो यह समझकर सब तैयारियाँ करोगे कि मुझे देश के हित के लिए उनसे मिलने जाना ही चाहिए। जब हम जनता का सेवक होने का दावा करते हैं तो उनके प्रति हमारे कर्तव्य को कैसे भुलाया जा सकता है ? इसलिए हमारा पूर्वनिश्चित कार्यक्रम वैसा ही रहने दो !' फिर तो किसीकी कोई भी दलील की जगह न रही, और सब मिलकर यह विचार करने लगे कि गांधीजी को कम से कम तकलीफ़ से कैसे घुमाया जा सकता है !

(३) सन् १९२८ से आश्रम में संयुक्त रसोईघर शुरू हुआ। कुल दो सौ स्त्री-पुरुष वहाँ भोजन करते थे। रसोईघर की घंटी ठीक समय पर बजती थी; किसी दिन भी वक्त की गड़बड़ी नहीं होती थी। वहाँ का सभी काम घड़ी के मुताबिक़ चलता था। जिस तरह भोजन करने वालों के लिए घंटी बजती थी, उसी तरह परोसनेवालों के लिए भी। उस घंटी के बाद परोसना शुरू होता था। उस घंटी के बाद जो कोई भोजन करने आता उसे दूसरी पंक्ति में बैठना होता था, और तब तक इंतिजार में उन्हें बाहर ही बैठना पड़ता था। गांधीजी भी रोज़ समय पर वहाँ आ जाते थे। एक दिन दोपहर को परोसने का समय हो जाने पर भी वे नहीं आये। घंटी बजाने वाले सज्जन उनकी राह देखते रहे; जब दूर से उन्होंने गांधीजी को आते देखा तो सोचा उनके नजदीक आ जाने पर ही घंटी बजाऊं। गांधीजी को मालूम हुआ कि उनके लिए परोसने में एक मिनट

की देरी हो गई, और घंटी भी देर से बजाई गई। उन्होंने घंटी बजाने वाले से कहा—'मेरे लिए तुमने कितने व्यक्तियों का समय बिगाड़ा? अगर मैं देर से आऊं तो मुझे भी दूसरे देरी वालों के साथ बाहर बैठना चाहिए, लेकिन घंटी में जरा भी देर नहीं होनी चाहिए!'

उसके बाद, दूसरी बार देरी हो जाने पर वे जल्दी जल्दी आ रहे थे, जरा ही दूरी पर थे कि घंटी बज गई, वे खिलाखिला कर हँस पड़े और बाहर ही रुक गये। आश्रम का नियम था कि हरएक व्यक्ति को कुछ न कुछ काम करना चाहिए! वे बराबर उस नियम का पालन करते थे। उनके लिए तरकारी सँवारने का काम निर्धारित था; उस वक्त अगर किसी को मुलाक़ात का वक्त दिया होता तो वे मिलते भी थे।

(४) आश्रम में, रोज़ प्रार्थना के बाद, प्रत्येक व्यक्ति को अपने काते हुए तार रजिस्टर में लिखाने होते थे, गांधीजी रोज नियमित रूप से कातते थे। मुझे ऐसा एक भी अवसर याद नहीं है जिस दिन उन्होंने न काता हो। उस दिन रविवार था और उनका मौन शुरू हो गया था। कातने की हाजिरी शुरू हुई। सबसे पहले गांधीजी का नाम था! जब उनका मौन दिवस होता तो उनके साथ काम करने वाला उनके तार लिखाता था। गांधीजी का नाम आने पर भी कोई नहीं बोला। सब चकित हो गये कि आज कोई उनकी हाज़िरी लिखाता क्यों नहीं? हाज़िरी भरने वाले कुछ देर खड़े रहे, लेकिन कोई न बोला, तब दूसरों की हाज़िरी भर ली गई। गांधीजी को भी लगा कि आज मन काता है, फिर भी कोई लिखाना क्यों नहीं? बाद में तलाश करने पर मालूम हुआ कि सूत लपेटा ही रह गया ह, किसीने उतारा नहीं। हमेशा उनके कातने के बाद साथ वाले सज्जन सूत उतार लेते थे, आज दूसरे काम में होने के कारण वे भूल गये थे। गांधीजी को अनुभव हुआ कि—'यह तो मेरी ही भूल है, दूसरे पर सूत उतारने का बोझा

डालना ठीक नहीं है; मुझे अपने हाथों सूत उतारना चाहिए, जिससे फिर ऐसी ग़लती नहो!'

उसके बाद् समय की कमी होने पर भी वे ही अपने हाथों सूत उतारने लगे!

बोचासण : १३-७-४५



दस्तख़त देने ही होंगे

● श्री. चिमनलाल प्रा. भट्ट ●

यह तब की बात है, जब सन् १९४४ के जून में गांधीजी जुहू में ठहरे हुए थे। उनकी रोज़ की सान्ध्यप्रार्थना के वक्त जुहू का सुन्दर समुद्रकिनारा बंबई के हज़ारों नर नारियों के लिए तीर्थरूप बन जाता था। लोग धीरे धीरे प्रार्थना के बाद नज़दीक से गांधीजी के दर्शन करने आते थे; और वे भी शांति पूर्वक आनेवालों से विनोद करते रहते थे। प्रार्थना के बाद बहुत से भाइ बहन अपने छोटे बच्चों के लेकर गांधीजी के पास आते थे, और उनसे प्रणाम करा कर गांधीजी के चरणों में हरिजन फंड के लिए भेंट चढ़ाते थे। ऐसे वक्त पर गांधीजी ख़ास करके छोटे बच्चों को एक एक के आम का प्रसाद देते थे, और कभी हँसते हँसते हलकी चपत लगाते या दो मीठे शब्द कहकर बच्चे के सात बच्चे जैसी मज़ाक भी करते थे। जुहू में यह उनका रोज़ का कार्यक्रम था!

यह घटना उनके जुहूनिवास के आख़िरी दिनों की है। रोज की तरह उस दिन भी समुद्र के प्रवाह की तरह मानवमेदिनी उमड़ रही थी। लेकिन यकायक प्रार्थना के समय पर वर्षा शुरू हो गई, इसलिए आकाश के नीचे रेती में प्रार्थना करना असंभव हो गया। बरसात रुकी नहीं, इसलिए लोगों को बिखर जाने की सूचना दी गई। लेकिन दर्शकगण यों ही गांधीजी के दर्शन बिना जाने वाले थोड़े ही थे? आख़िरकार जब गांधीजी ख़ुद आकर लोगों को बिखर जाने की सूचना देने लगे तो लोग उनके दर्शन करके धीरे धीरे अपने घरों को चले गये। उस दिन की प्रार्थना गांधीजी ने अपनी कुटिया में एक छोटी सी मंडली के साथ की प्रार्थना समाप्त हुए कुछ ही क्षण हुए होंगे कि एक १६-१७ साल की बालिका

बरसात में भींगती उत्साहपूर्वक वहाँ आई और अवसर देखकर अपनी डायरी गांधीजी के हाथ में रख दी, और उनके दस्तख़त माँगे। जाहिर है कि उनके एक बार के दस्तख़त की क़ीमत पाँच रुपये होती है और यह रक़म 'हरिजन-फंड' के काम में लाई जाती है। बालिका की डायरी में हस्ताक्षर करने के लिए गांधीजी ने क़लम उठाई ही थी कि कोई बोल उठा—'बापू, इसने पाँच रुपये नहीं दिये!'

बस। क़लम जहाँ थी वहीं रह गई; गांधीजी ने बालिका की ओर देखकर कहा—'दस्तख़त के लिए तुम्हें पाँच रुपये तो देने ही चाहिए?'

'मेरी स्थिति ऐसी नहीं है कि आप को पाँच रुपये दे सकूं!' उसने ज़रा भी हिचकिचाये बग़ैर कहा!' 'तो मैं दस्तख़त भी नहीं दे सकता!' गांधीजीने अपना नियम दोहराया।

'लेकिन बापू मैं पैसे कहाँ से लाऊँ? मैं तो ग़रीब विद्यार्थिनी हूँ!' बालिका ने विवाद किया।

'तू गरीब है, तो दस्तख़त के बिना भी काम चला सकती है; तू जानती है कि पाँच रुपये 'हारिजन-फंड' में जमा होते हैं!' गांधीजी ने उसे समझाने की कोशिश की।

'ठीक है!' वह बोली 'लेकिन मैं तो दस्तख़त लेकर ही रहूँगी; मैं गरीब हूं, क्या इसीलिये मुझे आपके दस्तख़त नहीं मिलेंगे? मैं धनवान नहीं हूं यह क्या मेरा गुनाह है?'

'तो तुझे तेरे माँबाप के पास से पैसे लेने चाहिए थे!' गांधीजी ने उपाय बताते हुए कहा—'या फिर दस्तखत का मोह छोड़। तुझे समझना चाहिए कि ये पांच रुपये तुझसे भी ज्यादा गरीब और दुःखी हरिजनों की सेवा के लिए हैं!'

'मेरे माँ बाप की भी ऐसी स्थिति नहीं है कि वे पांच रुपये दे सकें! आप मुझे दस्तख़त का मोह छोड़ने को कह रहे हैं, लेकिन मैं दस्तखत के बग़ैर नहीं जा सकती!' बालिका के स्वर में निश्चय अभिभूत था।

पास खड़े हुए एक सज्जन को विचार सूझा बोले–'बहन, तेरे कान के इयरिंग निकाल कर बापूजी को दे दे!'

बालिका के दोनों हाथ कानों की ओर गये; वह इयरिंग निकालने लगी।

लेकिन उसके निकालने के पहले ही पास खड़े हुए एक दूसरे सज्जन बोल उठे—'रहने दे बाई, ये इयरिंग तो पूरे आठ आने के भी नहीं हैं।'

और था भी ऐसा ही। अब किसी को भी बालिका की गरीबी पर शंका न रही!

डायरी अभी भी गांधीजी के हाथों में ही थी। उन्हें दूसरे दिन सुबह पूना जाना था, और दूसरे भी बहुत से काम करने बाकी थे; फिर भी अतीव धीरज के साथ वे अपनी बात उस बालिका को समझाने की कोशिश कर रहे थे। बालिका भी मानों वहाँसे न हटने का निश्चय करके ही शांतिपूर्वक बैठी थी।

इस तरह कुछ क्षण शांतिपूर्वक बीते। आखिरकार एक सज्जन ने रास्ता दिखाया; बोले—'बापूजी, आप इसे दस्तख़त दे दीजिये, आज इसकी तरफ़ के पांच रुपये मैं दिये देता हूं; इसके पास आने पर यह याद करके मुझे दे देगी; क्यों बहन, ठीक कह रहा हू न?'

'जरूर–' बालिका ने आभार और कृतज्ञता के साथ वचन दिया—'मैं आमदनी होने पर पहले पहल आपके रुपये देने का वचन देती हूँ!' गांधीजी ने तत्क्षण उसकी डायरी में दस्तख़त कर दिये।

आसपास खड़े हुए हम सबों को, इस मीठे झगड़े (या सत्याग्रह) का शांतिपूर्वक अंत आये देख, खुशी हुई। बालिका ने मानों जग जीत लिया हो, इस तरह मुस्कराती हुई, जिस तरह बरसात में भींगती हुई आई थी उसी तरह वापस चली गई!

मढ़ी : २१–७–४५



विद्यापीठ के दिनों में

● श्री० जेठालाल गांधी ●

(१) जब मैं सन् १९२२ में, अध्ययन के लिए विद्यापीठ में भरती हुआ, उस वक्त गांधीजी जेल में थे इसलिए सन् १९२४ आख़िर में, जब तक वे जेल से नहीं छूटे, उन्हें देखने या सुनने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। जब वे छूटे, उसी अर्से में "गुजरात महा विद्यालय" के विद्यार्थियों के मुखपत्र 'पंचतंत्र' के 'प्रगति, एकता और विद्यार्थी विशेषांक को सम्पादित करने में मैंने भी हिस्सा बँटाया था। साधारणतया कॉलेज में पढ़ने वाले कॉलेजियन को अपने विचारों में जो दृढ़ विश्वास होता है, और अपनी योग्यता का ख़याल किये बगैर दूसरों को उपदेश देने की मनोवृत्ति होती है, वैसी ही कुछ मनोवृत्ति मेरी भी थी। मैंने उस विशेषांक में "विद्यार्थी और राजनीति" शीर्षक जो लेख लिखा था, उसमें गांधीजी को सलाह दे रहे हों, इस तरह अपनी कमजोरियों और ख़ामियों का विचार न करके स्वयं जिन तत्वों से बने थे, उन्हीं से योजना बनाने में कुशल होने से, हम सबोंने महाविद्यालय और विद्यापीठ की नीति में परिवर्तन की ज़रूरत बताई। यह परिवर्तन विद्यापीठ को उच्च स्तर पर नहीं, बल्कि उसे क़रीब क़रीब सरकारी पाठशालाओं की श्रेणी में रखने का था। सन् १९२५ के उपाधिवितरण समारोह के वक्त जब गांधीजीने भाषण दिया, उसमें उपर्युक्त लेखका उद्धरण देकर अपनी हृदयव्यथा व्यक्त की, तब ही हमें अपने ओछेपन की वृत्ति का अनुभव हुआ।

(२) इस घटना से हमें अपने बारे में पूरी तरह सचेत हो जाना चाहिए था; लेकिन हम ठहरे विद्यार्थी। उन दिनों आचार्य कृपलानी विद्यापीठ के आचार्य थे; उनमें और हम विद्यार्थियों में वक्त वक्त पर मत-

भेद खड़ा हो जाया करता था; जिसका कारण हमारे दिमाग़ में भरे हुए वे ज़िद्दी विचार ही थे, जिसका उन दिनों हमें खयाल न था। एक बार हमने माँग पेश की कि हमारे महाविद्यालय में भी दिवाली की आठ दिन की छुट्टियाँ होनी चाहिए; आचार्यजी ने हमारी माँग मंजूर न की। हम भी उनके साथ वादविवाद में उतर पड़े; उन्होंने समयानुसार दो चार तीखे शब्द भी कहे! फिर क्या था? हम समझ बैठे कि यह तो हमारे अधिकारों पर प्रहार हुआ! झट हम गांधीजी के पास पहुँचे। उस वक्त वे काम में बहुत व्यस्त थे फिर भी हम सबों को बुलाकर हमारी बातें सुनीं; जवाब में कहा—'म शाम को कृपलानी जी को बुला लूँगा; तुम लोग भी आ जाना। हमें तो इतनी खुशी हुई मानों दिग्विजय कर लिया हो! शाम को वक्त पर हम सब आश्रम पहुँचे गये। गांधीजीने पहले आचार्यजी के साथ बात की, फिर हम सबों को बुलाया; उन्होंने हमसे इतना ही कहा—'अगर जिस तरह चल रहा है, वैसे ही चलते रहने के आसार दिखाई देते हों तो मैं कृपलानीजी को वापस यू. पी. में ख़ादी कार्य के लिए भेज दूँ, जहाँ से मैं इन्हें ले आया था!' हम सब तो देखते ही रहे गये! ऐसे जवाब की हमने आशा न की थी हमारे व्यवहार से गांधीजी को कितना दुःख हुआ होगा, यह ख़याल उस वक्त हमें आया भी होगा या नहीं, नहीं कह सकते! लगता है, तब ही से कृपलानी जी का मन वहाँ से उचट गया था। आखिरकार सन् १९२८ में गांधीजीने उन्हें वापस खादी कार्य में नियुक्त कर दिया। इस घटना में हमारे वे प्रतिरोध कारणभूत तो होंगे ही।

(३) सन् १९३५ म अहमदाबाद के 'साहित्य-परिषद्' के वक्त गांधीजी विद्यापीठ में ही ठहरे थे। वर्धा जाने के लिए, वे एक गाड़ी पहले, बड़ौदा जाकर वहाँ अपने दूसरे सहयोगियों से मिल जाने वाले थे। उनकी मंडली को रात की गाड़ी के लिए स्टेशन पहुँचाने का

इंतिज़ाम मुझे करना था। लेकिन ऐन वक्त पर, मैंने घोड़ेगाडी की जो व्यवस्था की थी उसमें गड़बड़ी हो गई; परिणाम-स्वरूप जब गाड़ी को पच्चीस मिनट बाक़ी थे, मुश्किलसे एक ईंटें ढोने वाली लॉरी को किराये पर लाया, और उसे सबों को बिठाकर गाड़ी रवाना होने के कुछ ही मिनट पहले स्टेशन पर पहुँचा पाया। इस भगदौड़ में श्री० प्यारेलाल की कमली कहीं खो गई। वर्धा पहुँचने के बाद गांधीजी ने, एक तो प्यारेलालजी की कमली और दूसरे विद्यापीठ में ठहरने के वक्त सीमान्त गांधी खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ की हमारे विद्यापीठ में ठहरने के दरमियान ठीक ठीक व्यवस्था न की जाने के बाबद, हमें एक उलाहना-भरा लम्बा पत्र लिखा। हमें एकाएक जवाब न सूझा, और हम उसका जवाब न भेज सके। उसके बाद क़रीब एक महीने के बाद मुझे वर्धा जाना पड़ा। श्री० काका साहब के साथ मैं सेवाग्राम गया, लेकिन गांधीजी के पास जाने की हिम्मत न हुई। जब श्री० काकासाहब ने मेरे आने की बात कही तो उसी वक्त गांधीजी ने मुझे बुलाया, और मौन-दिवस होने के कारण चिठ्ठी लिखकर पहला सवाल मुझसे यही पूछा—'मेरे ख़तका जवाब क्यों नहीं मिला?' जितनी मुझसे हो सकी, मैंने कैफ़ियत दी, और माफ़ी माँगी। इस घटना ने मुझे एक बहुत जरूरी सबक सिखाया।

(४) सन् १९३८ में, "आचार्य कृपलानी के लेखों" की किताब तैयार हुई। मेरी इच्छा थी कि उसकी प्रस्तावना गांधीजी ही लिखें; उन्होंने मेरी बात को मंजूर कर लिया। लेकिन कुछ दिनों बाद उनकी तबियत बिगड़ जाने के कारण श्री० महादेव देसाई ने मुझे लिखा कि –'गांधीजी को इस मेहनत से बचा लो!' उसी मुताबिक मैंने गांधीजी को पत्र लिखा। उन्होंने जवाब दिया–'नहीं, मै जल्द ही प्रस्तावना लिख कर भेजूँगा।' कुछ ही दिनों के बाद उन्होंने प्रस्तावना के साथ, दूसरी जरूरी सूचनाएँ भी लिख भेजीं, जिनसे पुस्तक में सुधा-

रने और शामिल करने की भी बात थी। एक बार किसी बात को हाथ में लेने पर, किसी भी क़ीमत पर उसे न छोड़ने का संकल्प हमें पहली बार उदाहरण के तौर पर देखने का मौक़ा मिला!

हमदाबाद: ४-८-४५

भगवान को भक्तोंने बिगाड़ा !

● श्री० नटवरलाल दवे ●

(१) दांडी-यात्रा के ऐतिहासिक दिनों में गांधीजी उसी सिलसिले में अपने दलबल के साथ आणन्द आये, और वहाँ की 'चरोतर एज्युकेशन सोसायटी' में ठहरे भी; उनके साथी सैनिकों का मुकाम भी वहीं था। मौन-दिवस को लेकर वे वहाँ एक दिन ज्यादा ठहरने वाले थे। रात को नीम के पेड़ों वाले चौक में उनका बिस्तर बिछाया गया; यही चौक अब "गांधी-चौक" के नाम से पहचाना जाता है। रात को उनकी सेवा का सौभाग्य मुझे मिला था। लोहे की पट्टियों वाले पलंग पर, खादी की ताज़ी भरी हुई, चौड़ी रजाई बिछाइ गई थी। गांधीजी ने देखते ही, ऊपर की चादर हटाना शुरू किया। हमने सोचा, शायद बिछाने में कुछ गलती हो गई है; हमने मदद करना चाहा; वे बोले-'इतने चौड़े बिस्तर की क्या ज़रूरत है?' उन्होंने रज़ाई को दोहरी तह करके बिछाया, अपने हाथों; हमारे चाहते हुए भी हमें हाथ नहीं लगाने दिया। बिस्तर के पास ही, सबेरे लिखने का सब सामान-डेस्क, कागज़ दावात-वगैरह रख दिया गया था, साथ में लालटेन भी था। पहले गांधीजी को जो पाख़ाना बताया गया था वह पलंग से कुछ दूर था, इसलिए एक हटाये जा सकनेवाला पाख़ाना गांधीजी के पलंग के पास लाकर रख दिया गया जिससे उन्हें सबेरे तकलीफ़ न हो। गांधीजी को यह बात ठीक माल्र्म न हुई; बोले-'उसे अपनी ज़गह से क्यों हटाया गया?' हमने कैफ़ियत दी कि हमने उनकी मंडली के एक सज्जन के कहने से ऐसा किया है। वे बोले-'इसे अपनी जगह पर रख दिया जाना चाहिए;' हमने हाथ लगाया; हमारे ही साथ गांधीजी ने भी उस ढकेल कर पहले की ज़गह पर ला दिया रखने के बाद गांधीजीने उसके भीतर देखा-वहाँ

हमने साबुन की डिबिया भी रख दी थी। उन्हें आश्चर्य हुआ, कुछ देर यों ही चुपचाप देखते रहे ! हमने यह साबुन भी उन्हीं सज्जन के कहे मुताबिक भीतर रखा था। गांधीजी ने कहा–'साबुन भीतर चाहिए या बाहर ?' खैर, साबुन बाहर रखा गया। वहाँ से आकर सोने की तैयारी करते हुए, इन सब भूलों को याद करके वे बोले–'भगवान को भक्तों ने बिगाड़ा है !' इतना कहने पर दो ही मिनटों के बाद वे गहरी नींद में थे।

(२) उन दिनों गांधीजी बोरसद में थे। उन्होंने बच्चों को समय समय पर जो पत्र लिखे थे, उन्हें मुझे संग्रह के रूप में प्रकाशित करना था। मैं उनकी मंजूरी लेने के लिए वहाँ गया। घूमने जाने के वक्त मुझसे बातचीत करना निश्चित हुआ था। मेरी ओरसे दूसरे सज्जन ने कहना शुरू किया; इतने ही में तीसरे सज्जन बोल उठे–'बापूजी, बच्चों को लिखे गये आपके पत्रों का एक छोटा संग्रह तो प्रकाशित हो गया है !' वे बोले–'ऐसा ? मुझे तो मालूम भी नहीं !' वे सज्जन, उसकी प्रशंसा करते हुए बोले–'पत्र बहुत सुंदर हैं !' गांधीजी ने उसी वक्त टौंका–'याने मैं खराब पत्र भी लिख सकता हूँ, यही न ?' सब खिलखिला कर हँस पड़े !

आणन्द: १६–७–४५



जीवन का सबक़

● कुसुम बहन देसाई ●

(१) साबरमती आश्रम में गांधीजी 'नवजीवन' के लिए एक लेख लिख रहे थे। लेख अधूरा था, और उसकी आख़िरी पंक्ति, ऊपर की दूसरी पंक्तियों की तरह स्पष्ट नहीं थी। ऐसा मालूम होता था कि उन्होंने नींद के झोंके में आकर लिखा हो। दस मिनट नींद लेने के बाद वे उठे और बाकी का लेख मुझसे लिखाना शुरू किया। उनकी आख़िरी पंक्ति के अक्षर देखकर मैंने कहा—'मालूम होता है कि आपको लिखते-लिखते नींद आ गई थी!' वे बोले—'हाँ, ऐसा ही हुआ है' कुछ देर ठहर कर फिर कहा, 'हमेशा की नींद भी इसी तरह, आख़िरी क्षण तक कामकाज करते हुए ही आ जाये, यही इच्छा है!'

(२) गांधीजी, अपनी इंद्रियों का उपयोग, सिर्फ़ ज़रूरत के वक्त लेने के आदी हैं। कई बार वे अपने अन्तरतम में इतने तल्लीन होते हैं कि उनकी इंद्रियाँ सिर्फ़ मशीन की तरह अपना काम करती रहती हैं, उनका चित्त इस ओर ज़रा भी नहीं होता। एक बार जगन्नाथपुरी स्टेशन पर, मेरे कंधेपर हाथ रखे गांधीजी क़रीब दस मिनट चले होंगे; तब तक उन्हें ध्यान ही नहीं आया कि उन्होंने किसके कंधे पर हाथ रखा है। किसी कारणवश, जब मैं बोली, और मेरा आवाज़ उनके कान में गया, तब ही आँखों ने अपना काम किया; और अंत में उन्होंने पूछा—'अरे, तू थी!'

(३) गांधीजी, जिस किसी के कल्याण की कामना सम्पूर्ण रूप से करते हैं, उसमें मामूली कमजोरी या किसी तरह की विकृति हो जाय, तो उन्हें हार्दिक दुःख होता है। एक बार उनके एक निकट के आतमीय के हाथों, एक भयंकर भूल हो

गई, जिसका इक़रार उन्होंने खुद गांधीजी के पास आकर कर लिया था। उस भूल का गांधीजी के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा हो, ऐसा मालूम होता था। पास बैठने वालों पर उस आघात का असर हुआ था। वे सूत कात रहे थे; बार बार सूत टूट जाता था। 'बा' पास ही बैठी थीं; बोलीं—'आज बार बार इतने तार क्यों टूट रहे हैं?' गांधीजी ने कहा—'जब हृदय के तार टूटे हुए हों तो, सूत के तार साबुत कैसे निकल सकते हैं?'

(४) गांधीजी के पास सुखी और दुःखी, दोनों तरह के आदमी आते रहते हैं। लेकिन बहुत से, जीवन से हताश, दुःखी व्यक्ति उनकी सहानुभूति की विशेष आकांक्षा करते हैं, जो गांधीजी उन्हें प्रेम और सम्हाल के साथ देते रहते हैं। एक ऐसी बहन आश्रम में आई, जो बचपन से ही दुःखी थीं; उनकी इच्छा, आश्रमवासी की तरह रहने के बजाय, गांधीजी के साथ रहने की विशेष थी, इसलिए उन्हें आश्रम के कार्यक्रम में विशेष रस न था, बल्कि गांधीजी की व्यक्तिगत सेवाशुश्रूषा में ही वे लीन रहती थीं। कई बार तो उन्हें अनुभव सा होता था कि आश्रम के अनिवार्य नियमों–उपनियमों से उनकी ऐच्छिक सेवाशुश्रूषा में बाधा उत्पन्न होती है। किसी कारण-वश उन्हें बाहर जानेकी ज़रूरत हुई, उन्होंने गांधीजी की अनुमति माँगी। गांधीजी ने कहा—'मेरी अनुमति ही काफ़ी नहीं है, तुम्हें आश्रम के मंत्री से भी अनुमति लेनी चाहिए!' यह बात उन्हें जंची नहीं; वे बोलीं–'मैं तो आपकी सेवा के लिए यहां रहती हूं, मुझे मंत्री की अनुमति की क्या ज़रूरत?' उन्हें समझाने के लिए गांधीजी ने कहा—'संस्था में रहने के लिए छोटे–बड़े नियम तो होते ही हैं; वहां रहने पर हरएक बात की अनुमति अपने लिए सबसे ज्यादा ज़रूरी चीज़ है। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचार या किसी एक व्यक्ति का आश्रय नहीं होता। समाज में रहनेवाले को, समाज के अनुरूप ही व्यवहार करना चाहिये, और ऐसा सा होने परही कोई संस्था; संस्था कही जा सकती

है, नहीं तो वह एक ही व्यक्ति का राज्य हो जाएगा। जो व्यक्ति अपने द्वारा आप बंधता है, वही बन्धन से छूटता भी है। लंगर के बिना जहाज़ स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता; वह यों ही डगमगाता रहता है और आखिरकार किसी बड़ी चट्टान से टकरा कर नष्टभ्रष्ट हो जाता है, और उस पर समुद्र के सभी जीवों का आधिपत्य हो जाता है। उसी तरह यदि मनुष्य अपनी मर्यादा आप बांध ले, तब ही वह दुनिया के तूफ़ानी समुद्र से लड़ कर भी शांत रह सकता है। इन सब बातों के समझ लेने के बाद जो कुछ तुझे ठीक मालूम हो, वही करना! मैंने इस दुनिया में अपने से आज़ाद किसी को नहीं देखा; लेकिन मैंने अपने आप को बाँध कर, याने नियम बनाने के बाद उनका पालन करके, अपनी स्वतंत्रता की साधना की है। मैं देखता हूँ कि इस दुनिया में हमें बहुतों के साथ बंध जाना पड़ता है। समाज में रहनेवाले व्यक्ति के लिए यह चीज़ ज़रूरी भी है; इस तरह बँधने के बाद ही कोई, समाज में रहने का अधिकारी हो सकता है।

(५) गांधीजी प्रार्थना को अपने जीवन का एक सबसे ज़रूरी काम समझते हैं, और मानते हैं कि हरएक मनुष्य को नियमानुसार प्रार्थना करनी ही चाहिए। आश्रम-वासी तो किसी जगह, नियम के मुताबिक प्रार्थना करने के आग्रही पहले से ही हैं। इसी सिलसिले में किसी बहन ने गांधीजी से पूछा—'हर बार प्रार्थना के श्लोक बोलते वक्त हम उनमें तल्लीन नहीं हो पातीं, कई बार तो तरह तरह के विचार भी उस वक्त आने लगते हैं, जिससे श्लोक बोलने में भक्तिभाव से मन नहीं लगता!' गांधीजी ने कहा—'श्लोक हमारी प्रार्थना के अंग हैं, यही समझकर उन्हें स्मरण करना चाहिए; इसी तरह श्रद्धा उत्पन्न करने की कोशिश से ही हम उसमें तल्लीन हो सकते हैं; नहीं हो तब भी हमें हारना नहीं चाहिए। भजन गाते वक्त सब ही तल्लीन नहीं होते; लेकिन श्रद्धा से गाते रहने पर ज़रूर किसी न किसी

दिन तल्लीनता आयगी ही। श्लोकों के अर्थ में जो रहस्य है, उसे मनन करने पर भी तल्लीनता पाने में मदद मिलेगी।

(६) साबरमती आश्रम में एक बहन ज्यादातर बीमार रहा करती थीं, उनसे एक दिन गांधीजी ने कहा—'सामर्थ्य से ज्यादा काम करने में अहंकार भरा रहता है, और मूर्खता तो साफ़ दिखाई देती ही है। जिसका बदन लोहे जैसा हो वही सामर्थ्य से ज्यादा काम कर सकता है, याने उसकी शक्ति के बाहर कोई भी काम नहीं है। ऐसा तो वे ही कर सकते हैं जो ममता-माया से शून्य हो गये हों, और जिन्होंने ईश्वर की गोद में अपना सिर डाल दिया हो। जब तुझमें इतनी श्रद्धा उत्पन्न हो कि ममता-मायासे शून्य होकर रह सके, तब जितना चाहे काम कर लेना; अभी तो मर्यादा के बन्धन में ही रहना चाहिए।

(७) एक बार प्रसंग-वश आश्रम के किसी सदस्य के नैतिक पतन के बारे में, प्रार्थना के वक्त गांधीजी ने एक खास मर्यादा रखकर, वह बात आश्रमवासियों से कही। जो मर्यादा गांधीजी में थी, वह दूसरों में न थी, इसलिए बात मालूम होने पर आश्रमवासियों में भीतर ही भीतर चर्चाएं होने लगीं। यह देखकर किसी ने गांधीजी से कहा—'जिनके साथ उस व्यक्ति का सम्बन्ध हो, यदि उन्हें ही हम ऐसी खबर दें तो ठीक, क्योंकि आप जैसी सहिष्णुता और उदारता हम लोगों में नहीं है!' इसके जवाब में गांधीजी ने कहा—'तुम्हारी बात का समर्थन किया जा सकता है, लेकिन जो कुछ हो रहा है वह भी ठीक ही है; लोगों की कानाफूसी को बन्द करना चाहिए। लेकिन उसके लिए वैसी आदत की ज़रूरत है। आश्रम में हम जो जो प्रयोग कर रहे हैं वे हमारे लिए नये हैं, इसलिए जब तक हम उनसे अभ्यस्त नहीं हो जाते तब तक सम्भव है कि हमारे प्रयोगों का असर उलटा हो। लेकिन इसमें डरनेकी कोई बात नहीं है, ऐसा करते रहने से ही हम पाप को छुपाना बन्द कर देंगे-भूल जाएंगे। 'महाभारत' में यही खूबी है कि

व्यासजी ने पापों को छुपाने की कोशिश नहीं की; यही बात सोचने की है।'

(८) आश्रम के शामिल रसोई घर को शुरूआत में गांधीजी को वहां काफी समय देना होता था। वहां के रसोईघर में सिर्फ़ शरीर के पोषण भर के लिए बिलकुल मामूली और सादा भोजन बनाया जाता था; कई सदस्यों को तो भोजन अनुकूल भी नहीं होता था। इसके बारे में गांधीजी ने कहा था—' रसोईघर पाकशाला है; वहां पर अनाज को वैज्ञानिक रीति से रखने, पकाने और खाने की सहूलियत होनी चाहिए। इसलिए यहां की प्रत्येक क्रिया में संयम और सफाई की अपेक्षा है; वहां हम भोग के लिए खाने नहीं जाते। शरीर तो ईश्वर को रखने का मंदिर है; उसे हमें नियमित रूप से साफ रखना चाहिए, और अन्न देते वक्त सम्हालना भी चाहिए। अगर तुम इस कल्पना को समझ लो तो फिर खाने के बारे में जो विवाद देखा जाता है, वह न रहे!

(९) हरएक मनुष्य के व्यक्तित्वका विकास हो यही गांधीजी की नीति है। वे यह नहीं चाहते, कि कोई अपनी इच्छाओं को इसलिए रोके कि "बापू यह बात नहीं चाहते!" इस बात के उदाहरण के तौर पर एक महत्वपूर्ण घटना यहां उद्धरित करती हूँ। 'दांडीयात्रा' के अवसर पर गांधीजी ने प्रतिज्ञा की और आश्रम से निकलते वक्त निश्चय किया कि 'भले ही कुत्ते या कौवे की मौत मर जाऊँ, लेकिन स्वराज्य लिए बगैर आश्रम में वापस नहीं आऊँगा!' उनके दूसरे साथी सैनिकों ने भी स्वराज्य हासिल किये बग़ैर आश्रम में नहीं लौटने की प्रतिज्ञा की थी। बहुत सी बहनों ने आग्रह किया कि इस युद्ध में बहनों को भी स्थान मिलना चाहिए। पहले तो बापू की इच्छा अनुमति देने की नहीं थी, लेकिन बाद में उनके सत्याग्रह के कारण उन्हें 'अहिंसा-युद्ध' में स्थान मिला, और उनके लिए भी एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार हुआ। नवसारी और वेजलपोर में स्त्रियों की परिषद् में भी इसी बारे में चर्चाएँ

हुई। आश्रम की बहुत सी बहनों ने भी वही प्रतिज्ञा ली। एक बहन ने, जिनके लिए सभी स्त्रियोंका अनुमान था कि वे जरूर प्रतिज्ञा लेंगी, वक्त पर संक्षेप में प्रतिज्ञा लेने से इन्कार कर दिया। सब उनसे कहने लगीं— 'आप प्रतिज्ञा न लें, यह कैसे हो सकता है?' ठीक समय पर उन्होंने गांधीजी को अपनी असमर्थता के कारण बताये; गांधीजी ने उन्हें प्रतिज्ञा का रहस्य समझाने की कोशिश की; उन्होंने बहन को यह भी बताया कि ऐसे मौके पर प्रतिज्ञा न लेने से उन्हें दुःख होगा; यह भी कहा कि- 'अगर हरएक सैनिक अपनी मर्जी के मुताबिक चले तब तो सेनापति की धज्जियां उड़ जाएंगी।' कपड़े की मिल में, थान का परिमाण बीस गज़का कर दिया जाने के बाद अगर कोई थान अठारह गज का निकले तो उसे अलग कर दिया जाता है। इन सब दलीलों के जवाब में उन्होंने गांधीजी से यही कहा —'आपकी बात, मैं ठीक ठीक समझती हूं। प्रतिज्ञा का सूक्ष्म अर्थ मेरे लिए, मन, वचन और कर्म से स्वराज्य के लिए लिया जानेवाला संन्यास है। अभी मेरी स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं चौबीसों घंटे, कैसी भी अवस्था में, अपनी प्रतिज्ञा को अनुभव कर सकूँ। अगर ऐसी स्थिति में भी मैं प्रतिज्ञा लेती हूं तो यह मेरे लिए अपने को और आपको धोखा देना होगा। अभी तक के मेरे जीवन के संस्कार ऐसे हैं कि म शायद बिना प्रतिज्ञा लिए ही अपना ज्यादा विकास कर सकूँ!' उनके विचार जान लेने के बाद गांधीजीने कहा— 'इस वक्त प्रतिज्ञा न लेने से मुझे दुःख तो हो ही रहा है; लेकिन तेरी हिम्मत के लिए तुझे धन्यवाद देता हूं; म कहता हूं इसीलिए अगर कोई काम किया जाय तो मुझे सन्तोष नहीं होगा।'

(१०) आश्रम में, अथवा गांधीजी के दूसरे किसी निवास-स्थान पर कभी कभी विवाह भी होते हैं। गांधीजी चाहते हैं कि जो बालिका कुँवारी हो और आजन्म कुमारी रहना चाहती हो, वह ऐसे प्रसंगों में भाग न ले। इसी सिलसिले में उन्होंने एक बार कहा था –'जो कन्या

अविवाहित रहने का निश्चय कर चुकी हो, उसे कौतूहल या दूसरे किसी भी कारण को लेकर विवाहितों के जीवन का निरीक्षण किसी भी हालत में नहीं करना चाहिए। प्रकाश्य रूपसे वह विनोद्-पूर्वक विवाहितों को न देखे, क्योंकि इस तरह की मनोवृत्तिवाली बालिका का मन कुमार नहीं, बल्कि विषयों की आराधना करने वाला होता है।

(११) १९४४ में आगाखाँ महल से गांधीजी के छूटने के बादकी यह घटना है, जब वे पूना में रहे थे। वहाँ उनके दर्शनों के लिए आनेवाली एक स्त्रीके चेहरे पर दाग् जैसी लकीरें पड़ गई थीं, और वे भी १९४२ के अगस्त-आन्दोलन की ही एक ऐतिहासिक यादगार थीं। उस महिला के चले जाने के बाद गांधीजी के एक साथी ने उनसे पूछा—'बापू, उस बहन के चेहरे पर लगी हुई ऐतिहासिक लक़ीरों को आपने देखा?' जवाब में गांधीजी ने पूछा – 'तुम्हें तो यह पूछना चाहिए था कि मैं किसी के चेहरे को ध्यान से देखता भी हूं?'

बड़ौदा : २१–७–४५।



गांधीजी का प्रोत्साहन

● डॉ. मनुभाई ज. त्रिवेदी ●

(१) सन् १९३० के दिनों में मेरा मन काफ़ी क्षुब्ध और घबराया सा रहा करता था; उस वक्त मुझे तसल्ली देने के लिए उन्होंने जेलमें से ही एक ख़त मुझे लिखा—

'चि० मनु, तू अब भी शांत हुआ या नहीं ? अगर मन के साथ समाधान न हुआ तो फिर मुझसे जानते रहने की कोशिश करना। तुझसे जबर्दस्ती पुण्य कराना नहीं चाहता; आज तक कोई भी व्यक्ति जबर्दस्ती पुण्य, संसार में नहीं कर सका है; तेरी इच्छाएँ भी शुभ हैं, इस लिए तुझे वहीं बैठने नहीं दिया जायगा—बापू का आशीर्वाद (७–९–३०)

(२) सन् १९३६ में, मैं आस्ट्रिया की एम्. डी. की परीक्षा में पास हुआ जिसकी ख़बर मने गांधीजी को ख़त के जरिये पहुँचा दी; उस ख़त में मैंने अपनी दूसरी उलझनों के बारे में भी लिखा था। उसके जवाब में उन्होंने मुझे लिखा—'सत्य और आहिंसा का रास्ता अख्तियार करने पर तो पहले अपनी कमज़ोरियों पर ही नज़र पहुँचानी होती है; लेकिन अगर वह नज़र हमारी चाल में तेज़ी न ला सके, पुरुषार्थ को विकसित न करे, तो वह कमज़ोरियों को देखने की नहीं बल्कि उस रास्ते को छोड़ने का एक बहाना हो जाती है। 'मुझ में योग्यता नहीं है' ऐसे कहनेवाले मुझे बहुत से मिले हैं। अपनाये हुए मार्ग को छोड़ने के बाद उन लोगों में सत्य और अहिंसा के लिए नफ़रत पैदा हो जाती है, और आख़िरकार वे भोग विलास को ही धर्म मानने लग जाते हैं। ऐसी ऊब तुझमें पैदा नहीं होनी चाहिए। देहधारी के रूप में हम सब अधूरे हैं, मिट्टी के एक कण से भी हमारी क़ीमत

कम है; आत्मा के रूप में, ईश्वर के स्वरूप हैं। इस में जरा भी सन्देह नहीं कि जो शक्ति किसी समूह में होती है, वही शक्ति उसके प्रत्येक अंश और बिंदु-बिंदु में होती है। यही सोचकर तू अपने बारेमें भी संदेह नहीं कर सकता। अगर हम समझें कि शरीर, आत्मा को पहचानने का एक साधन है और आत्माही उसका विधाता है, तो बाजी अपने हाथों आई हुई समझनी चाहिए। उसके बाद तू अपनी इच्छा से सर्जन बनने, बच्चों का डॉक्टर बनने या किसी पर भी ज्यादा जोर न देगा—बापू का आशीर्वाद (दिसम्बर–१९३६)

(३) सन् १९३१ में इंग्लैंड से लौटते हुए गांधीजी महर्षि रोम्यां रोलां से मिलने के लिए स्विट्ज़रलैंड गये थे। उन दिनों मैं जर्मनी में अध्ययन कर रहा था इसलिए गांधीजी के साथ कुछ दिन बिताने के विचार से विलनव पहुँच गया। उस वक्त की दो-तीन छोटी छोटी बातें अभी तक याद हैं। लुजान की एक सभा में सवाल-जवाब के वक्त उन्होंने कहा था—'पहले तो मैं कहता था कि परमेश्वर ही सत्य है, बाद को मैं सत्य को ही परमेश्वर के रूप में पहचानने लगा। तब ही से मैं तथाकथित निरीश्वरवादियों को और ज्यादा समझने लगा। मुझे लगा कि वे भी एक विशेष सत्य की खोज में फिरनेवाले ही तो हैं!' जिनेवा में रेड क्रॉस की उपयोगिता के बारे में उन्होंने एक महत्वपूर्ण जवाब यह भी दिया था कि—'लड़ाई में घायल व्यक्तियों की मदद करना तो अच्छा है ही, लेकिन मैं तो उस ज़माने की राह देख रहा हूँ, जब लड़ाइयाँ ही न हों। और रेड क्रॉस की ज़रूरत ही न पड़े!' स्विट्ज़रलैंड के पहाड़ी रास्तों पर, ख़ास दिसम्बर के महीने में, वहाँ के रास्तों पर जब गांधीजी सिर्फ़ चप्पल पहन कर घूमने जाते तो मुझे वह उनकी इच्छा-शक्ति का चमत्कार ही मालूम होता था।

(४) सन् १९४१ के अप्रैल में मेरे पिताजी वर्धा में, अपनी आख़िरी बीमारी भुगत रहे थे। गांधीजी ने मुझे सलाह दी थी कि मैं उन्हें सिर्फ़ गंगाजल और ग्लूकोज़ के इंजेक्शन पर ही रखूँ। वे जानते थे कि, जिन्होंने मुझे डॉक्टर बनाया, उन्हीं की अंतिम बीमारी में मैं इलाज़ न करूं तो मुझे भला मालूम नहीं देगा; लेकिन वे पिताजी की मृत्युकी अनिवार्यता देख चुके थे। उनकी मान्यता थी कि डॉक्टरी इलाज़ से उनकी तक़लीफ़ें और बढ़ जाएँगी। फ़िर भी हम लोगोंने क़रीब आठ दिनों तक डॉक्टरी इलाज़ ज़ारी रखा; उसके बाद पिताजी ने देहत्याग किया।

(५) श्री० महादेव भाई, सन् १९४२ में थोड़े दिनों के आराम के लिए नाशिक जाने के लिए बिड़लाजी के साथ सेवाग्राम से रवाना हुए। वर्धा स्टेशन पर ही उनकी तबीअत बिगड़ गई—ज़ोर से सिरदर्द होने लगा। कार्यक्रम रद्द किया गया और कुछ देर विश्रान्ति के बाद मैं उन्हें पहुंचाने के लिए सेवाग्राम गया। उन्हें गांधीजी के पास जल्द ही पहुंच जाने की इच्छा थी, और जैसे ही वे घर पहुंचे, गांधीजी ने भी उनके घर में प्रवेश किया; यह घटना उन दोनों के परस्पर प्रेम की सूचक थी। बाहर से दोनों शांत थे, लेकिन दोनों परिस्थिति की गंभीरता को समझते थे। वह संयम और स्नेह का एक अनोखा दृष्य था। मुझे मालूम है कि जब मैं वर्धा में रहा हूं, तब कई बार गांधीजी १०२° बुख़ार में भी बीमारों को देखने के लिए नियमित रूप से जाते थे।

वर्धा, ७–८–४५।



गांधीजी की सहृदयता

● श्री० ज़वेरभाई पु० पटेल ●

सन् १९४४ के अन्त में गांधीजीने श्री० राजाजी के निवेदन करने पर, खाने के उपवास के बदले काम का उपवास शुरू किया था। उपवास के दरमियान वे सेवाग्राम से वर्धा आकर श्री० जमनालाल बजाज की पुत्री श्रीमती मदालसा बहन के घर ठहरे थे। वहाँ रहकर एक सप्ताह में उन्होंने वर्धा और नालवाड़ी की संस्थाओं का निरीक्षण किया। जेल से छूटने के बाद, बहुत दिनों से उनकी इच्छा एकबार संस्थाओं की हालत ख़ुद जा कर देखने की थी, और इस अनोखे उपवास के निमित्त उनकी इच्छा पूरी भी हो गई। बहुत सी बातों में वह उपवास अनोखा ही था। शुरू में तो 'काम के उपवास' की कल्पना ही नई थी; दूसरे इस उपवास का मतलब काम को छोड़ देना तो था ही नहीं, क्योंकि उस एक सप्ताह में उनका कार्यक्रम बहुत व्यस्त रहा। उस वक्त उपवास का अर्थ यही था कि पहले से किसी भी कार्यक्रम की रूपरेखा वे तैयार नहीं करते थे, सामने जो भी काम आ जाता, उसे कर डालते थे, जिससे दिमाग़ पर कार्यक्रम का बोझ न रहे। इस तरह कहा जा सकता है कि वह मानसिक बोझ का उपवास था।

वर्धा में उनके इस एक सप्ताह में ही एक दिन मैं मगनवाड़ी के काम के लिए गांधीजी के पास बठा था; अमृतलाल नाणावटी भी वहीं थे। श्री० कनु गांधी पीठ पर मालिश कर रहे थे। साधारणतया गांधीजी की मालिश का वक्त सुबह का होता है, उसी वक्त वे लेटे हुए सारे बदन की मालिश करा लेते हैं। लेकिन वह रात का वक्त था; वे बैठे हुए सिर्फ़ पसलियों की ही मालिश करा रहे थे। मुझे बात कुछ विशेष मालूम हुई। मैंने पूछा—'बापू, आपकी तबीअत कसी है?'

'ठीक है' वे बोले–'अभी अभी पसलियों में दर्द शुरू हो गया है। इसकी वजह मालूम है ? नन्दलाल की लड़की हरिइच्छा की तबियत की खबर सुनकर मुझे आघात लगा है, बेचारी को जीने की उम्मीद है। सुशीला उसे ले जाकर नागपुर के डॉक्टर डेविड को दिखालाआई है। डॉक्टर ने कहा कि उसके दोनों फेफड़े बिलकुल बिगड़ गये हैं, और वे केस लेनेको तैयार न हुए। वे और कर भी क्या सकते थे ? नन्दलाल के सिर पर भी यह बड़ा बोझ है। सभी दुःखी हैं। इस बातने मुझे आघात पहुँचाया, और इसी लिए पसलियों में दर्द शुरू हो गया है। लेकिन यह दर्द ज्यादा वक्त नहीं रहेगा। बात का असर मिटते ही दर्द भी मिट जाएगा।

वर्धा: २१-७-४५



उनके मंत्रिमंडल में !

● कुमारी वनमाला नरहरि परीख ●

(१) महाबलेश्वर में एक दिन दोपहर को मैं गांधीजी के पैरों पर घी मल रही थी; वे सो रहे थे। यकायक उन्होंने ज़ोर से हाथ हिलाया, और एकबार आँखें खोलकर वापस मूंद लीं। जगने पर मैंने उनसे हाथ हिलाने का कारण पूछा। उन्हें सपना आया था। दोपहर को वे बोलते नहीं इसलिए पास रखे हुए एक पीठकोरे कागज़ के टुकड़े पर अपना सपना लिख दिया; वह काग़ज़, बहुत बारीक़ था जिसपर एक तरफ़ स्याही से लिखे जाने के कारण दूसरी तरफ़ भी स्याही फैल गई थी; उसपर उन्होंने पेंसिल से ही लिखा था, इसलिए मुझे पढ़ने में बहुत मुश्किल का सामना करना पड़ा। मैं चुपचाप वहाँ से चली आई और डाक में आये हुए एक मज़बूत कागज़वाले लिफ़ाफ़े को खोलकर उसका चोकौर कागज़ लेकर उनके पास गई, और पुराने कागज़ोंको उठाकर उनकी ज़गह वह चोकौर कागज़ रख दिया। उन्होंने मुझे देखकर हाथ के इशारे से पूछा—'क्यों ?' मैंने कहा—'बापू, आप तो कागज़ की बचत करते हैं और हमारी आँखें फूटती हैं!' वह बारीक़ कागज़ों की बुक मेरे हाथों में ही थी; वे बोले—'यह मुझे दे दे।' मैंने कहा—'नहीं, म जो कागज़ लाई हूं, उसी पर लिखिये!' उन्होंने कहा—'नहीं, पहले मुझे बुक दे दे, मैं बताता हूं!' मैंने अनिच्छा से उसे उनके हाथों पर रख दिया। उसी में से बारीक़ कागज़ क एक टुकड़े पर स्याही से उन्होंने लिखा—'मैं जानता हूं कि मुझे स्याही से ही लिखना चाहिए, लेकिन इसके लिए यह कागज़ नहीं, बल्कि मैं जवाबदार हूं। आइन्दा मैं स्याही से लिखूंगा, लेकिन ये कागज़ मैं अपने पास ही रखूंगा!' मैंने कहा—'ऐसे कागज़ ठीक नहीं

होते बापू, मैं दूसरे अच्छे कागज़ दे जाऊँगी!' मैंने जो कहा, वह तो कई लोगों ने कई बार कहा होगा, लेकिन फिर भी न जाने कहाँ से वे ख़राब कागज़ ढूंढ निकालते हैं, चाहे वे टेढ़े सीधे फाड़े हुए लिफ़ाफ़े हों, या पतले कागज़ हों! गांधीजी की बहुत सी जरूरी बातें ऐसे कागज़ पर ही लिखी जाती हैं। यह बात दूसरी है कि हम उसकी नक़ल दूसरे कागज़ पर उतार लें, लेकिन स्वाभाविक तौर पर उन्हीं की लिखावट अपने पास रखने की इच्छा होती है।

(२) रोज़ दोपहर को गांधीजी गीली मिट्टी की तह पेट पर रखकर सो जाते हैं। मिट्टी बिखर न जाय इसलिए वे उसपर एक कपड़ा लपेट कर उसपर सेफ़्टी पिन लगा देते हैं। एक दिन वह पिन भूल से दूसरी जगह रख दी गई। मिट्टी की पट्टी तैयार करनेवाली लड़की ने पिन को बहुत ढूँढ़ा, पर न मिली। गांधीजी नाराज़ होंगे इस डर से उसने उसी आकार की एक दूसरी पिन वहाँ लगा दी। उस बेचारी को यह बात मालूम न थी गांधीजी की पिन एक ख़ास तरह की होती है जिससे खरौंच न लग सके। संयोगवश किताबों की अलमारी में गांधीजी को ही वह पिन मिल गई। जब वह लड़की पट्टी बांधने आई तब गांधीजी ने उससे पूछा—'यह पिन कहाँ से आई?' जवाब में उसने कहा—'बाथ रूम में गिर गई थी, वहीं से मिली है!' वे बोले—'देख, वह पिन तो यह है; तू मामूली डर से एक पिन के लिए झूठ बोली उसके बजाय गलती कबूल कर ली होती तो नम्रता सीखती। ऐसी छोटी सी वस्तु के लिए झूठ बोलने की आदत कई बार बहुत बड़ा रूप ले लेती है।'

(३) करीब छः महीने पहले गांधीजी सेवाग्राम में बीमार हो गये थे; खाँसी का बहुत जोर था। एक वैद्यने उन्हें अपनी औषधि के साथ बादाम का हलवा खाने की सलाह दी; ऐसी भारी ख़ुराक गांधीजी को हज़म नहीं हो सकती, इसलिए पहले तो उन्होंने इन्कार किया।

लेकिन वैद्य का विश्वास था कि इसी से उनकी तबीअत ठीक होगी। जब वैद्यने काफ़ी आग्रह किया तो उन्होंने किसी तरह खाना मंजूर किया। हलवा बनकर आया उस वक्त कान्हा * पास ही बैठा था; उसने कहा—'बापूजी, आप यह हलवा खाएँगे? यह भी तो एक तरह की मिठाई है! आप सबोंको तो मिठाई के लिए मना करते हैं और खुद सबसे बड़े होकर भी खाते हैं? यह आपको हज़म नहीं होगा!' गांधीजी हँसे। खाने के क़रीब पौन घंटे के बाद उन्हें कै हो गई; क्यों कि हलवा तो हज़म होना ही नहीं था! कान्हा बोला—'देखो, जो मैंने कहा वही हुआ न!' गांधीजी ने हँसकर कहा—'सही बात है!'

(४) मैं जब एक साल की थी तब की यह बात, मुझे माँ ने बताई थी। गर्मी के दिन थे; और साबरमती में गर्मी का पूछना ही क्या? एक दिन माँ मुझे लेकर शाम की प्रार्थना में गई। जब सब बैठ गये, और प्रार्थना शुरू होने लगी उसी वक्त मैं रोने लगी। गांधीजी ने मेरी माँ से पूछा—'यह क्यों रो रही है?' माँ ने कहा—'मैंने इसे मोटे कपड़े का फ्राक और जाँघिया पहना दिया है, इसलिए इसे गर्मी लग रही है!' गांधीजीने कहा—'इसे कपड़े की क्या जरूरत? कपड़े निकाल दो। यह तो भागवान के वहां जो कपड़े पहन कर आई है उसी में खुश रहेगी, ये कपड़े इसे नहीं चाहिए!'

(५) छोटे बच्चों को भेंट देने की बात निकलती है तब मुझे कुमारी मनु गांधी की कही हुई एक बात याद आती है। मनु ने प्यारेलालजी के भाई की छोटी बच्ची के लिए एक चांदी का घुंघरू और चांदी का ग्लास भेजा। सुशीला बहन ने ये दोनों चीज़ें गांधीजी को बताईं; उस

* श्री० रामदास गांधी का पुत्र।

वक्त मनु वहाँ मौज़ूद नहीं थी; इसलिए गांधीजी ने ग्लास और घूंघरू वापस करके एक चिट्ठी लिखी—'अब तुझे 'मनुड़ी' (बचपन का नाम) कैसे कहा जाएगा, तू तो मनु बहन बन गई है? तेरी यह भेंट देखकर तो मैं उबल उठा हूं! क्या चांदी का घुंघरू और ग्लास देना तुझे शोभा देता है? तू बच्ची को बिगाड़ना चाहती है? लेकिन मेरे देखते तू उसे नहीं बिगाड़ सकेगी! मैं चाहता हूं कि घूंघरू और ग्लास तू अपने पास ही रखे रहे, जिससे तुझे यह बात याद रहेगी। हम ग़रीबों को ऐसी भेंट लेना भी शोभा नहीं देता, और देना भी नहीं!

पूना : २०–७–४५।



प्रथम–प्रभात की पहली किरणें

● श्री. नारायण महादेव देसाई ●

जीवन का पहला प्रभात किसे याद नहीं आता ? जब भुवन-भास्कर किसी कोमल पुष्प को अपनी कोमल किरणों से खिलाने की कोशिश करते हैं, तब वह फूल किस भाव का अनुभव करता होगा ? और उस भावना को फिर से अनुभव करने की कामना किस फूल को न होगी ?

उन दिनों मैं गांधीजी को "दादा" कहकर पुकारता था; दूसरे लोग उन्हें जिस नाम से पुकारते थे, उससे अलग सा ढंग अख्तियार करने का मुझे गर्व था। 'दादाजी' की पहली पहली याद तो इतनी ही है कि वे हमें बहुत प्यारे लगते थे और इसी लिए अच्छे भी। जब वे घूमने निकलते तो सब ही उनकी 'लकड़ी' बनने की कोशिश करते, लेकिन 'लकड़ी' बनने में सफल हम ही होते थे। घूमते वक्त 'दादाजी' इतने तेज़ चलते कि हम सब हाँफ जाते थे; इतने थक जाने पर भी हम खुश रहते थे क्योंकि जो कुछ हमें मिलता था, उसे बड़े बड़े नहीं पा सकते थे। प्रार्थना में भी यही सिलसिला था। दूसरे सब लोग गांधीजी के सामने लाइन लगाकर बैठते थे और हम गांधीजी के पास से ही लाइन लगाते थे। कितने बड़े गर्व की बात थी यह ! लेकिन जब हम दो दो बच्चे उनकी गोद में एक साथ चढ़ जाते, तब कुछ मुश्किल होती थी; प्रार्थना में शांति से बैठे रहने का बदला हम बाद में उनसे पूरी तरह ले लेते थे।

लेकिन कुछ ही दिनों बाद एक ऐसी घटना हो गई कि हम गांधीजी पर खूब नाराज हो गये। श्री० शांतिकुमार ने एक टोकने में हमारे लिए बंबई से खिलौने भेजे थे। एक दिन वे खिलौने गांधीजी के

कमरे में पड़े थे; हम में से एक खुद जाकर इस बात की चौकसी कर आया। उसने हमारे पास आकर एक एक खिलौने का ऐसा बखान किया कि हमारा जी ललचा गया। हम सब बच्चों का मन तोप, गाड़ी और घोड़ों का मालिक बनने को मचल उठा; लेकिन इतने में मालूम हुआ कि व खिलौने हमें नहीं मिलेंगे— बापूजी ने इन्कार किया है! हम सब यह सुनकर अपनी सेना लेकर गांधीजी से युद्ध करने चले! आक्रमण भी हमने ही शुरू किया!

'बापूजी, हमारे खिलौने हमें दे दीजिये, उन पर हमारा हक है!' हममें से किसी बड़े लड़के ने कहा।

'नहीं!'

'क्यों?'

'तुम उन खिलौनों को क्या करोगे?'

'खेलेंगे!'

'ऐसे खिलौनों से हम खेल भी सकते हैं?'

गांधीजी ने हमें भी 'हम' की गिनती में गिन लिया इसलिए हमारा जोश कुछ कम हुआ; लेकिन फिर भी लड़ाई ज़ारी ही रही।

'तो इसमें कौन सी बुरी बात है?'

'अरे! वे खिलौने तो विदेशी हैं! हम ऐसे खिलौनों से कैसे खेल सकते हैं? हम तो 'स्वदेशी' खिलौनों से खेलनेवाले कहलाते हैं!'

विदेशी खिलौनों में ज़रूर कुछ ख़राबी होगी यह समझकर हमारी फ़ौज़ वापस लौट आई; उस वक्त 'स्वदेशी' का पूरा मतलब तो कैसे समझ में आ सकता था? मुझे याद है कि जब तक वे खिलौने आश्रम से नहीं चले गये तब तक हममें से बहुतोंको उनसे न खेलने का पछतावा ज़रूर रहा!

बापूजी के साथ हमारी सच्ची दोस्ती तो तब ही हुई जब वे कुछ दिनों तक यरवदा जेलमें रहे थे। सप्ताह में एक बार नियमित रूप से वे अपने 'प्यारे पंछियों'को एक ख़त जरूर लिखते थे। हमें ख़त लिखना नहीं आता था और लिखने की ख़ास उमंग भी नहीं थी। हमारे संगीत शिक्षक हमारी तरफ़ से ख़त लिख देते थे; उसमें सवालों का सिलसिला ज़ारी ही रहता था। ख़त जाने पर बापूजी हमारे सवालों का जवाब बहुत ही संक्षिप्त रूप में देते थे, जो हमें ठीक नहीं लगता था। एक ख़त में मैंने उनसे पुछवाया—'बापूजी, गीता में अर्जुन, कृष्ण से एक श्लोक पूछते थे और वे उसका जवाब कई श्लोकों में देते थे। लेकिन हम तो आपसे पूरा ख़त लिखकर सवाल पूछते हैं और आप एक ही लकीर में जवाब क्यों दे डालते हैं?'

हमने इस प्रश्न की बुद्धिमत्ता के लिए बड़ों के द्वारा अपनी तारीफ़ भी सुन ली थी, इस लिए हमें लगा कि सचमुच मैंने कोई बहुत ही बड़ा सवाल पूछा है; मेरे दूसरे बहुत से साथी इस सवाल के जवाब की राह बहुत आतुरता पूर्वक देख रहे थे।

किसी तरह आठ दिन बीते, और बापूजी का ख़त आया; इस वार दूसरों से अलग मेरे नाम एक अलग ख़त था जिसमें लिखा था—'तेरा सवाल ठीक है, लेकिन कृष्ण भगवान को तो एक ही अर्जुन था, और मेरे पास जो बहुत से अर्जुन हैं उनका क्या?'

कई बार शिक्षकों की शिकायत के लिए भी इन्हीं ख़तों का उपयोग होता था। बरसात के दिन थे; वर्षा अभी ही रुकी थी, पर आँगन पोखरों से भर गया था। उद्योग-मंदिर म जाने का वक्त हो गया था, लेकिन मैं वहीं एक पोखर के पास बैठा, पानी में डूबती हुई चींटियों को बचाने की कोशिश कर रहा था। इतने ही में हमारी शिक्षिका मुझे ढूँढ़ती हुई वहाँ आ पहुँची। कान पकड़कर मुझे उद्योगमंदिर में ले जाया गया। इस

घटना का पूरा वर्णन मैंने एक ख़त लिखकर गांधीजी के पास पहुँचा दिया। उन्हें ख़त पढ़कर दुःख हुआ इस लिए उन्होंने शिक्षिका को इसी बारे में एक पत्र लिखा जिसके फल-स्वरूप मार पड़ना बन्द हो गया।

यह बात उस घटना के क़रीब पाँच साल बाद की है। मुझे वर्धा के "मारवाड़ी हायस्कूल" (वर्तमान 'नवभारत विद्यालय') में भर्ती किया गया था। इसके पहले मैं, गुजरात विद्यापीठ के 'विनयमंदिर' में था, इस लिए मुझे पहले ही रोज पाठशाला और विद्यापीठ का फ़र्क़ मालूम हो गया। वहाँ के शिक्षकों का पढ़ाने का तरीक़ा, असभ्य भाषा और बर्ताव और मिल के कपड़े मुझे बुरे मालूम हुए। घर आने पर पिताजी से पूरी हक़ीक़त कह देने के बाद मैंने कहा—

'मैं इस पाठशाला में नहीं पढ़ूँगा!'

'तब क्या करेगा?'

'आपके पास पढ़ूँगा!'

'मेरे पास वक़्त कहाँ होता है?'

'यह मुझे नहीं मालूम! कुछ भी हो, लेकिन कल मैं उस पाठशाला में नहीं जाऊँगा!'

उन दिनों हम मगनवाड़ी में रहते थे और बापूजी सेवाग्राम में। पिताजीने मुझे अपना निर्णय गांधीजी को लिख देने को कहा। मैंने बापूजी के नाम एक पत्र लिखा, जिसमें अपना पूरा 'केस' बयान किया था।

उन दिनों श्री० आर्यनायकम् "मारवाड़ी हायस्कूल" के आचार्य थे; उनका अनुरोध था कि मैं पढ़ना न छोड़ूँ। दूसरे दिन सुबह गांधीजी ने हम दोनों को सेवाग्राम बुलाया। सेवाग्राम में सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य मनोहर होता है; उस दिन का दृष्य मुझे अभी तक हूबहू

याद है। प्रभात की किरणें बापूजी पर पड़ रही थीं; उन्होंने हँसते हँसते हम दोनों को घूमते जाते वक्त साथ ले लिया।

श्री० आर्यनायकम् का कहना था कि 'अगर इसकी व्यवस्थित पढ़ाई न की गई तो इसका पूरा अभ्यास चौपट हो जाएगा!'

बापूजी ने कहा—'ऐसी पाठशालाओं में व्यास्थित पढ़ाई हो भी कैसे सकती है? इसके लिए तो मैं घर पर ही प्रयोग करना चाहता हूँ। घर रखकर काम के जरिये ही युनिव्हर्सिटी के बजाय अच्छी पढ़ाई क्यों न कराई जाय?'

नायकम्जी ने दूसरी दलील का उपयोग किया:—'यह अभी कच्ची उम्र का है इसलिए पाठशाला में पढ़ना नहीं चाहता; लेकिन बड़ा होने पर पछताएगा और तब आपको भी कोसेगा।'

बापूजी बोले—'मैं ऐसा कोई कारण ही नहीं रहने दूँगा जिससे यह बड़ा होने पर पछता सके। और अगर भविष्य में युनिवर्सिटी की पढ़ाई के आकर्षित भी हुआ तो मुझे दुःख नहीं होगा। अगर यह अभी सोच समझकर पाठशाला में जाने से इन्कार करता हो तो इसे भेजना अत्याचार ही कहा जायेगा।'

दलीलें तो बहुत सी हुईं लेकिन सबों का परिणाम यही हुआ कि नायकम्जी को बापूजी के विचारों को मान्य करना पड़ा। मुझे तो किसी से तर्क-वितर्क करना ही नहीं था क्योंकि उन्होंने मुझसे कह दिया था—'तू लोगों की बातों से उलझन में न पड़ना, मैं जो तेरा वकील हूँ!'

आज तक तो वे मेरे वकील रहे हैं; लेकिन यह बात मैं नहीं करूँगा। आज तो प्रथम प्रभात की किरणों में नहाने का आनन्द ही लेना है।

सेवाग्राम : २३-७-४५



सेवाग्राम में गांधीजी !

● श्री० महादेव हरिभाई देसाई ●

कुछ ही समय पहले, जब गांधीजी वायसराय से मिलने गये थे तब ही की यह घटना है। गुप्त घटना न होने से मैं इसे प्रकाशित करने में कोई दोष नहीं देखता। गांधीजी और वायसराय दोनों ने लम्बी बातचीत के बात यही निष्कर्ष निकाला कि फ़िलहाल उनमें मेलजोल की संभावना नहीं। उसके बाद वायसराय ने भी सोचा कि क्या अब भी वार्तालाप में कुछ लाभ है? और यदि नई बात या कोई नया प्रस्ताव न हो तो फिर एक दूसरे का समय बिगाड़ने में क्या फ़ायदा? साथ ही साथ उन्हें यह भी महसूस हुआ कि यदि इस तरह एकाएक वार्तालाप बन्द हो जाय तो जनसाधारण के मन पर आघात नहीं लगेगा? उन्होंने महात्माजी की इस बात का भी समर्थन किया कि जनता को झूठी आशाओं में भुलाये रखने के बजाय उनसे सच बात खुले तौर पर कह दी जाय, यही ठीक है। उन्होंने गांधीजीसे पूछा 'आप सेवाग्राम के लिए कब रवाना होंगे?' 'अगर मेरा मत पूछें तो म आज ही रवाना होने को तैयार हूँ; जब तक आपको मुझसे काम है मुझे यहाँ रहना ही होगा; और ता. १३ तक मैं यहाँ बिना किसी बाधा के ठहर भी सकता हूँ। लेकिन अगर यहाँ मेरी बिलकुल जरूरत न हो तो मैं आज ही रवाना हो जाना चाहता हूँ, मेरे मन में इसी बात की रटन लगी हुअी है। मैं अपने कई दुःखी और बीमारों को छोड़ आया हूँ, जो मेरे बहुत ही निकट के साथी हैं; और मुझे उनके साथ रहने पर जितनी ख़ुशी होती है उतनी और किसी बात से नहीं होती।

बात सच है। अगर आप चाहें तो इसे उनकी 'कमजोरी' कह सकते है, लेकिन उनकी 'ताक़त' भी इसी में समाई हुई है। वे शुरू

से तन और मन से बीमार व्यक्तियों सेवा–सुश्रूषा का काम बहुत रुचि-पूर्वक करते रहे हैं। कहा जा सकता है कि इस बात की उन्हें लगन लगी हुई है। अगर ज़िन्दे प्राणियों की चीर-फाड़ का उनके कोमल मन ने विरोध न किया होता तो वे एक सफल डॉक्टर और सर्जन हो गये होते। उन्होंने वकालत को अपनाया, और उनके समय का बड़ा हिस्सा सार्व-जनिक सेवाओं में व्यतीत हुआ; तो भी प्रारंभ से, बीमारों की देखभाल करने का जो उत्साह उन्हें पहले था, वह अब भी है और रहेगा। शुरू में तो यह उनके लिए शौक़ की चीज थी, लेकिन बाद में उनका अन्तः-करण समवेदना के साथ इस काम में प्रवृत्त हुआ, और अब कहा जा सकता है कि वे यह काम अपने अन्तःकरण के सन्तोष और शांति के लिए ही करते हैं।

उन्हें, इस तरह, बीमार, अपाहिज और पागलों की गिनती में गिने जाने वाले लोगों से ही सच्ची प्रेरणा मिलती है। गांधीजी ने हमें पहले से ही इस बात की हिदायत दे रखी है कि जब हमारी मंडली कहीं प्रवास के लिए रवाना हो, तब उनके नाम आने वाली डाक में, सबसे ऊपर उन्हीं भाई बहनों के ख़त रखे जायँ। अगर इन बीमारों के खाने पीने या इलाज़ के बारे में कोई ज़रूरी बात पूछी जाए तो वे अपनी सबसे ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण मुलाक़ात को रोक कर भी जवाब देने को तैयार रहते हैं। उनकी इस आदत,—या यों कहिए कमज़ोरी—को सब अच्छी तरह जान गये हैं इस लिए कुछ अपवादों को छोड़कर काँग्रेस–कार्यसमिति की बैठक वर्धा से बाहर ही हुई है। कार्यसमिति की साधारण बैठक तो वर्धा में ही होती हैं, लेकिन असाधारण और अत्यावश्य बैठक गांधीजी की सेवाग्राम वाली मिट्टी की कुटिया में ही होती है। सेवाग्राम की कुटियों में गांधीजी की कुटिया सब से छोटी है, लेकिन स्वच्छता और शांति में उसके मुक़ाबले कोई दूसरी कुटिया नहीं

है। लॉर्ड लोथियन और सर स्टेफर्ड क्रिप्स जैसे व्यक्तियों ने उनसे इसी कुटिया में बातचीत की थी। सेवाग्राम में सोफ़े और कुर्सियाँ तो दुर्लभ हैं ही, वहाँ तो ज़मीन पर बिछाई हुई ताड़पत्र की चटाई पर ही बैठना होता है। अगर कोई पालथी लगाकर उस पर न बैठ सके तो ख़ास तार एक छोटी सी तिपाई दे दी जाती है। यह सही है कि कुर्सियाँ वग़ैरह न होने से ज़मीन पर बैठने की साधारण जगह रहती है, फिर भी जब १०–१५ व्यक्तियों का कोई प्रतिनिधि–मण्डल गांधीजी से मिलने आता है, तब हमें जगह की बहुत तंगी पड़ती है। दीवार पर, मीरा बहन के बनाये हुए मिट्टी के चित्र ही कुटी की शोभा या श्रृंगार कहे जा सकते हैं।

कॅरैल कापेक नामक एक लेखक ने कहा है कि दुनिया में दो तरह के आदमी होते हैं–एक वर्ग, तरह तरह चीज़ें इकट्ठी करके सारा घर भर डालना चाहता है, और दूसरा वर्ग अपने लिए कम से कम चीज़ें इकट्ठी करता है। गांधीजी में दोनों रुचियों का मिश्रण हुआ है। उन्हें कम से कम चीज़ों की आवश्यकता होते हुए भी, तरह तरह की चीज़ें इकट्ठी करते हैं। जिस तरह वे ज़रूरी बातें याद रख कर दूसरी साधारण बातें भूल जाते हैं उसी तरह उनकी कुटिया में जो चित्रविचित्र अनेक चीज़ें मौजूद हैं, उसका कुछ न कुछ उपयोग ज़रूर होता है। जिस समय उन्हें किसी कील, पिन, पुठे के टुकड़े या रद्दी कागज़ से बनाये गये लिफ़ाफ़े की ज़रूरत पड़ती है, तब उनका हाथ ठीक इसी जगह जा पहुँचता है, जहाँ वह रखी होती है; उन्हें उनकी कोई भी चीज़, एक पल के लिए भी ढूंढनी नहीं पड़ती।

चाहे जिस वक्त, चाहे जितने मुलाकाती उनसे मिलने आते ह, लेकिन उनके कार्यक्रम में ज़रा भी अन्तर नहीं पड़ता। रोज़ सुबह ११ बजे उनकी कुटिया भोजनालय बन जाती है, क्योंकि रोगियों की देख भाल डॉ० सुशीला नायर के ज़िम्मे होते हुए भी उनका भोजन

गांधीजी के मतानुसार उनके सामने ही दिया जाता है। कभी कभी ऐसे बीमारों में सिंध के नेता और कार्य-समिति के सदस्य श्री० जयरामदास दौलतराम जैसे व्यक्तियों का भी समावेश होता है। सभी बीमारों को गांधीजी के सामने ही परोसा जाता है, और उन्हें खाने की हरएक चीज़ से लगातार अवगत करना होता है। इसके बाद एक घंटे के भीतर ही कुटिया 'ऑफ़िस' में परिवर्तित हो जाती है। उस दिन की डाक और अख़बार गांधीजी के सामने रखे जाते हैं। अख़बारों की ख़ास ख़ास ख़बरों को सुनने और ख़तों पर सरसरी तौर से निगाह डाल लेने के बाद वे सो जाते हैं, और उनके सहायक-गण भी उस वक्त का यही उपयोग करते हैं। उसके बाद लिखने या आगंतुकों से बातचीत का वक्त शुरू होता है। बहुधा इस वक्त गांधीजी पेट पर मिट्टी की पट्टी लगाकर सो रहते हैं। ख़ून के दबाव से छुटकारा पाने के लिए यह उनका ख़ास नुस्ख़ा है। यह उनकी अपनी सूझ है, किसी डॉक्टरकी सलाह नहीं। गर्मी के दिनों में वे मिट्टी की दूसरी पट्टी सिर पर भी रख लेते हैं। जब कोई आगंतुक उनके इस क्रिया-कलाप पर आश्चर्य प्रकट करता है तो वे हँसते हुए मिट्टी के असाधारण गुणों का बखान करना शुरू कर देते हैं, यह कहते हुए कि—'इसीलिए तो मैं पैरों से रौंदने के बजाय इसे सिर और पेट पर रखता हूँ।'

इसके बाद सूत कातने की बारी आती है। प्रायः हर वक्त सूत कातते हुए वे आगंतुकों से बातचीत करते रहते हैं। कभी कभी सूत कातते वक्त वे नई तरह के चरखे को जाँचने और उसके लिए ज़रूरी हिदायतें और सुधार ढूँढने में भी मशगुल रहते हैं।

बहुत कम लोग जानते होंगे कि चरखे का नाम 'यरवदा चक्र' क्यों और किस तरह रखा गया। सरलता से, एक जगह से दूसरी जगह घुमाये जा सकने वाला चरखा पहले पहल सूरत—निवासी श्री० बीमावाला ने आविष्कृत किया था। जब सन् १९३० में गांधीजी यरवदा जेल में

थे, उन्होंने उस चरखे में ज़रूरी सुधार करके उसे उपयोगी बनाया था, इसीलिए 'सन्दूकी–चर्खे' का नाम 'यरवदा–चक्र' रखा गया था; उसी तरह यरवदा जेल में उनके अनशन के परिणाम-स्वरूप जो समझौता हुआ वह भी 'यरवदा–इक़रार' के नाम से ही पहचाना जाता है।

लेकिन यह तो विषयान्तर हो गया। पाँच बजे शामको भोजनकी घंटी बजती है; और फिर एक बार उनकी कुटिया भोजनालय बन जाती है; बीमार लोग ठीक समय पर वहाँ आ जाते हैं। भोजन के बाद कुटिया सूनी हो जाती है, क्यों कि सब लोग घूमने निकल जाते हैं। शाम की प्रार्थना के बाद यह कुटिया और उसके पासवाली सहन, शयनगृह बन जाती है। गांधीजी के नित्य–कार्यक्रम में, सुबह और शाम घूमने का प्रार्थना के बराबर ही महत्त्व होता है। उस वक्त भी वे अपना बहुत सा काम कर डालते हैं। बहुधा इस वक्त वे रसोई कर, खेत की फसल या गौशाला में पैदा हुए बछडे आदि के बारे में उस विभागों के व्यवस्थापकों से जरूरी बातें करते हैं। वर्धा के चर्मालय और ग्राम-उद्योग-संघ के बहुत से कार्यकर्त्ता गांधीजी से मिलने के लिए, उनका दूसरा वक्त न लेकर घूमने के समय ही उनसे जरूरी चर्चा करके अपना चला लेते हैं। कई बार घूमते वक्त गंभीर विषयों पर भी चर्चा होती है। अगर उस वक्त उनके साथ बातचीत करने वाला कोई नहीं होता तो वे छोटे बच्चों के साथ विनोद करके दिनभर की व्यस्तता के बाद मानसिक विश्राम पाते हैं और ये छोटे छोटे बच्चे—गांधीजी के वे नौनिहाल पौत्र—उन्हें कई बार खिलाखिला कर हँसाते हैं। एक बच्चा पूछता है—'बापूजी, आप दिल्ली जा रहे हैं ?'

'हाँ!'

'क्यों ?'

'वायसराय से मिलने के लिए!'

'लेकिन आप ही हर बार वायसराय से मिलने दिल्ली जाते हैं; वायसराय, आपसे मिलने के लिए यहाँ क्यों नहीं आते?'

यह सुनकर सभी खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। दूसरा एक पौत्र सिर्फ़ सौलह महीने का है। जब मौन-दिवस होता है, तब वह 'बापूजी, बापूजी!' कह कर पुकारता है, लेकिन जवाब न मिलने पर बार बार बापूजी की लकड़ी पीछे खींचता है; ख़ुद हँसता है, और सबों को हँसाता है।

लेकिन बहुधा जब काम का बोझ बढ़ जाता है तब ऐसे विनोद के क्षण हम सबों के लिए अलभ्य हो जाते हैं। दिन हो या रात, नागपुर के अख़बारवाले, भारतमंत्री लॉर्ड ज़ेटलैंड का सबसे ताज़ा वक्तव्य या लॉर्ड लिनालिथगो का कोई नया फ़रमान लेकर उनके बारे में गांधीजी का अभिप्राय लेनेके लिए दौड़े आते हैं। ऐसे वक्तव्य उन्हें घूमते वक्त सुनाये जाते हैं और उसका जवाब वे वहाँ से लौट कर लिखाते हैं या दिन में कभी भी थोड़ा वक्त निकालकर ख़ुद लिख डालते हैं।

हिन्दुस्तान के बारे में लॉर्ड ज़ेटलैंड के अंतिम वक्तव्य का जवाब उन्होंने मालिश और हज़ामत कराते वक्त लिखा था। उनकी लिखावट कुछ सुघड या सुवाच्य तो नहीं कही जा सकती; और अगर कोई दूसरा काम करते हुए कुछ लिखा हो तब तो उन्हें पढ़ना सिद्धहस्त टाइपिस्ट ही नहीं किन्तु ख़ुद उनके लिए भी मुश्किल हो जाता है।

गत स्वतंत्रता-दिवस के वक्त पर ली जाने वाली प्रतिज्ञा के बारे में बहुत से सवाल सोचकर हमारी मंडली में से एक सज्जन गांधीजी के पास गये और पूछा—'आप मुझे क्या करने की सलाह देते हैं? इस प्रतिज्ञा में से इतने ज्यादा मतलब निकलते हैं कि मैं समझ नहीं सकता कि आपने इसे कैसे गढ़ा होता?' गांधीजीने जवाब दिया—'देखिये, वेद की ऋचाओं में से अगणित अर्थ निकलते हैं या नहीं? हमारी यह

प्रतिज्ञा भी वेद की ऋचा जैसी ही है। अगर आप में उसका सही अथ निकालने की क्षमता और साहस हो तभी यह प्रतिज्ञा लीजिये, नहीं तो छोड़ दीजिये।'

प्रतिदिन, बंबई के अंग्रेजी दैनिक 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के सम्पादकीय लेख के शीर्ष पर एक विचार–रत्न दिया जाता है, गांधीजी उसे रोज़ अवश्य पढ़ लेते हैं। अगर और बहुत से कामों की वज़ह से उन्हें पढ़ने का बिलकुल समय न हो तब भी उस विचार–रत्न को पढ़े बिना उनसे नहीं रहा जाता। कुछ दिनों पहले उन्हें उसमें से एक ऐसा वचन मिल गया, जिसका वे आजन्म ज्ञानपूर्वक आचरण करते आये हैं, क्योंकि उसमें 'अहिंसा' के एक अंग का समावेश है। यह वचन उन्होंने अपनी बैठक की सामने वाली दीवार पर टँगवा दिया है, जिसका अनुवाद यह है—'तुम्हारी बात सच्ची होती है तब तुम्हारा मिज़ाज़ आपे में रहता है, लेकिन अगर तुम्हारे विरोधी की बात सच्ची होती है तब अपने स्वभाव को निम्नस्तर पर ले जाना, चलाया नहीं जा सकता!'

इसीलिए वे किसी ऑफ़िसर के क्रोधोत्पादक वक्तव्य, या किसी नेता के बेहूदे भाषण से खीझते नहीं। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' उन्हें हमेशा प्रेरणात्मक शांति देता है, आर उनकी प्रार्थना में उसका स्थान भी गीता के समान ही है। तुलसीदासजी का यह दोहा उनकी जीभ पर हमेशा आता रहता है:—

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

इसी सिलसिले में कुछ प्रसंग यहाँ देने योग्य हैं। एक दिन सरदार वल्लभभाई पटेल ने गांधीजी से कहा—'अख़बार में आया है कि लॉर्ड लिनलिथगो ने अपने भाषण की एक नक़ल पहले से ही आपको भेज दी थी; वह सिर्फ़ सूचित करने के लिए भेजी थी या कुछ

फेर–बद्ली करने के लिए ?' गांधीजीने जवाब दिया—'बिलकुल झूठी बात है ! उस बात में सुधार या परिवर्तन का जरूरत नहीं, उसे तो फाड़कर फेंक देना चाहिए !' सरदार साहब बोले—'पर आपको तो सभी देवों को एक साथ राज़ी करना भी अच्छी तरह आता है । अगर किसी लेख में आपने वायसराय के भाषण के बारे कुछ समर्थन किया हो तो उसी लेख में जयप्रकाश और सोशलिस्टों की भी तारीफ़ की है !'

गांधीजी ने हँसकर जवाब दिया—'ठीक है ! यह बात मुझे मेरी माँ ने सिखाई थी । वह मुझे वैष्णव मंदिर और शिवमंदिर दोनों जगह जाने को कहती थी; और जब मेरी शादी हुई तब हम सिर्फ़ हिन्दू मंदिरों में ही नहीं बल्कि एक फ़क़ीर की दर्गा पर भी दर्शन करने गये थे !'

एक दिन एक अमेरिकन पत्रकार उनसे मिलने के लिये आया । गांधीजी उससे मिलने के लिए भीतर जा ही रहे थे कि एक आदमी दौड़ता हुआ आया और बोला—'आर्यनायकम्जी का लड़का अपनी आख़िरी साँसें गिन रहा है !' क़रीब आधे घंटे पहले ही वह चपल बच्चा हँसी ख़ुशी खेल रहा था, इस लिए यह ख़बर हमें गलत–सी मालूम हुई । गांधीजी जल्दी जल्दी खेतों के रास्ते श्री० आर्यनायकम्जी की कुटी पर गये और बच्चे की माता श्रीमती आशादेवी को आश्वासन देने लगे । बच्चा तो मूर्छित था, और उसके उठने की ज़रा भी आशा तब शेष न रही थी । लेकिन गांधीजी जाते वक्त मुझसे कह गये थे कि जब तक म न आऊँ इस आदमी (पत्रकार) को बिठाये रखना !' दूसरे दिन मालूम हुआ कि वह बच्चा कुनैन की गोलियों से भरी सारी बौतल खा गया था; गोलियों पर शक्कर की तह थी इसलिए मिठास की वजह से बच्चा सारी कुनैन खा गया, जिसका ज़हर सारे शरीर में उसी वक्त फैल गया । हर एक आश्रमवासी के दिल में इस घटना

से बेचैनी बढ़ी गई थी; लेकिन गांधीजी खेल-खत्म होते देख वहाँ से अपनी कुटिया को लौट आये और उस अमेरिकन पत्रकार को भीतर बुलाया। पत्रकार को कोई ख़ास सवाल नहीं पूछने थे, इसलिए वह दुनिया की साधारण स्थिति के बारे में कुछ सवाल पूछने लगा।

'मेरी स्थिति तो कुए के मेंढ़क जैसी है...' गांधीजीने उसी वक्त जवाब दिया—'मेरे लिए तो सारी दुनिया हिन्दुस्तान और सेवाग्राम में समाई हुई है! मेरे बहुत से साथी जिस तरह दुनिया की राजनीति का अभ्यास करते हैं, वैसा मैं नहीं करता!'

दूसरा प्रश्न था—'क्या आगामी छः महीनों कोई जानने लायक समाचार मिलेंगे?'

'कोई बड़ी भारी बात हो जाने की आशा नहीं है।' पत्रकार का अभिप्राय समझकर गांधीजी ने जवाब दिया 'हम जो दबाव डालेंगे वह भी कमजोर मालूम होता है; पश्चिम की हिंसक वारदातों से जितनी धांधली होती है, उतना असर हमारे अहिंसक आन्दोलन से पैदा नहीं होता। और आपको यह भी न भूलना चाहिए कि लड़ाई में, हथियार के नाम पर हमारे पास सिर्फ़ चरखा ही है।'

'तो भी क्या उपद्रव नहीं हो सकता?' पत्रकार ने पूछा मानों उसकी आवाज़ में, उपद्रव के अभाव में कोई ज़ोरदार समाचार लिखने को न मिलने का दुःख समाया हुआ था। गांधीजी ने जवाब दिया—'अगर ब्रिटिश अधिकारी उत्पात और उपद्रव चाहते ही हों तो वह उन्हें चाहे जब मिल सकता है; याने अगर वे देशवासियों को जान बूझकर भड़काएँ तो उपद्रव हो सकता है। मैं नहीं मानता कि हमें इस वक्त उपद्रव की ज़रूरत है! मैं खुद भी लड़ने की हवस इस वक्त रखना नहीं चाहता!'

'अच्छा, अब आपकी तबीअतके बारेमें कुछ कहेंगे?' गांधीजी ने जवाब दिया–'इस पेन्सिल की तरह मध्यम' (मिडलिंग); कहकर उन्होंने अपने हाथ की पेंसिल को सामने करके उस पर लिखा हुआ 'मिडलिंग' (मध्यम) शब्द बताया।

पत्रकारने देखा कि उस बच्चे की अकाल मृत्यु से आश्रम का वातावरण बहुत गमगीन हो गया था, फिर भी, गांधीजी खुद हँसकर दूसरे को हँसा सकते थे! लेकिन कई बार गांधीजी बाहर से आने वाले मुलाकातियों से ही नहीं, बल्कि आसपास के अशांत वातावरण को दूर करने के लिए मौन धारण करके चुप चाप एक तरफ़ बैठे जाते हैं। चिंता और खीझ या क्रोध वग़ैरह के परिणामों से बचने के लिए यही उनका एकमात्र अक्सीर इलाज़ है। वर्तमान अशांति और मानसिक क्लेश से भरे हुए वातावरण में वे बहुधा अखंड मौन धारण कर लेते हैं; और उनका वह मौन सिर्फ़ बीमारों और ज़रूरी मुलाकातियों के लिए ही टूटता है। मौन ही अपने आसपास फैली हुई अशांति से बचने का अचूक इलाज़ है। इतना ही नहीं, आत्मा या ईश्वर से प्रेरणा का, यही मौन एक अमोघ साधन हो जाता है। एक बार एक मित्र ने उनसे मौन रहने का रहस्य पूछा; उन्होंने जवाब में कहा—'जब जब मैं मौन रहता हूँ, तब तब मुझे ईश्वर से समीप होने का बोध होता है; फिर भी मैं इस बात का समर्थक हूँ कि—चाहे हम मौन हों या बोलते हों, एकान्त में हों या भयंकर भीड़ में, हममें ईश्वर से सम्बन्ध बनाये रखने की शक्ति हमेशा होनी चाहिए। मेरे मौनव्रत शुरू करने का मक़सद यही था कि सारे दिन बिना खलल के काम कर सकूँ। जब मुझे एकाग्रता से काम करने की जरूरत होती है, तब सोमवार के अलावा भी मौन धारण कर लेता हूँ। इसकी शुरूआत शारीरिक सहूलियतों के लिए की थी, लेकिन अब देखता हूँ कि आत्मविकास में भी यह मेरी काफ़ी मदद करता है। कई दिनों तक जब मैं अखंड

मौन बना रहता हूँ, तब मुझे ईश्वर के सान्निध्य का अधिक से अधिक अनुभव होता है !'

जैसा कि मैंने पहले बताया, सेवाग्राम को एक एकान्त स्थान बनाने का विचार गांधीजी ने शुरू शुरू में किया था। वे अपने साथ किसी को भी, यहाँ तक कि कस्तूरबा को भी ले जाना नहीं चाहते थे। जब सन् १९३७ में अमेरिकन ईसाई नेता डॉ. जॉन मॉट गांधीजी से मिलने के लिए आये तब उनकी मुलाक़ात, सेवा-ग्राम की पहली और एकमात्र झोपड़ी में ही हुई थी। उस वक्त ग्रामोद्योग का कार्य करने वाले सिर्फ़ पाँच छः व्यक्ति उस झोंपड़ी में रहते थे। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद नज़दीक और दूर के कार्यकर्त्ता आने लगे, और उन्हें इन्कार कर देने की हिम्मत गांधीजी की न हुई।

पहले सेवाग्राम में दवाख़ाना रखने का उनका बिलकुल विचार नहीं था। शुरू शुरू में इलाज़ के तौर पर उपवास या आधा उपवास कराया जाता था; और आनेवाले बीमारों के लिए अरंडी का तैल, सोड़ा-बाइ-कार्ब, कुनैन और आयोडिन, ये ही दवाइयाँ रखी गई थीं, लेकिन समय बीतने के साथ ही साथ बीमारों की संख्या बढ़ती गई और डॉ. सुशीला नायर के आ जाने के बाद तो एक छोटा मोटा दवाख़ाना ही तैयार हो गया। वर्धा के तालीमी-संघ की स्थापना के बाद, उसी सिलसिले में आर्यनायकम् दम्पति वहाँ आकर रहे और अनुकूल वातावरण में अपना काम शुरू किया। बस्ती धीरे धीरे बढ़ने लगी और बीमारों के लिए दूध की ज़रूरत पड़ने लगी, इस लिए गायें रखी गईं और दुग्धालय शुरू हुआ और उनकी देखभाल करने वाले ग्वाले भी रखे गये। इन दिनों आश्रम के लिए आवश्यक दूध, दहीं, मक्खन और तरकारी और आंशिक रूप में अनाज भी आश्रम की ज़मीन पर ही तैयार होता है; इसके लिए गोधन की ज़रूरत है; हाँ बकरियाँ तो हैं ही।

इस तरह उस कहावत वाले संन्यासी जैसी ही बात हुई! संन्यासी ने एक बिल्ली पाली; उसे दूध देने के लिए गाय रखी; गाय की देखभाल के लिए ग्वाला रखा और इस तरह उनका परिवार धीरे धीरे बढ़ता ही गया। मुझे तो विश्वास है कि अगर गांधीजी संन्यास लेकर एकबार हिमालय चले जायँ तब भी, उस संन्यासी की बात की पुनरावृत्ति हुए बिना न रहे।*

इसके अलावा कई व्यक्ति कुछ दिनोंके लिए रहने को भी आते रहते हैं। गांधीजी की कुटिया की तरह 'बा' (कस्तूरबा) की कुटिया भी, समय पड़ने पर चाहे जितने मेहमानों को ज़गह देने की गुंजाइश रखती है। महिला–मेहमानों की सब व्यवस्था खुद 'बा' करती हैं। लेकिन कई बार उन्हें अड़चन पड़ने पर भी, तरह तरह के स्वभाव वाले मेहमानों की व्यवस्था करनी पड़ती है। बहुत समय पहले हरिजनों की एक मंडली, अपने कल्पित अन्याय के विरोध में भूख–हड़ताल के इरादे से सेवाग्राम में आइ गांधीजी ने उन लोगों को, आश्रम में किसी भी ज़गह, जहाँ वे चाहें, रहने की अनुमति देकर उनका सारा क्रोध हर लिया। गांधीजी ने उन लोगों से कहा—'तुम लोग जहाँ रहना चाहो, ज़गह पसन्द कर लो; अगर तुम चाहो तो मैं अपनी झोपड़ी भी तुम्हारे लिए खाली कर दूंगा!' उन लोगोंने अपने रहने के लिए 'बा' की झोपड़ी का एक हिस्सा, और उस के साथवाला एक कमरा पसन्द किया।

'बा' ने हँसते हँसते पूछा–'मैं कहाँ रहूँगी?'

---

* यहाँ पर मूल लेख में श्री० भणसाली, जापानी साधु, श्री० परचुरेशास्त्री और श्री० भारतानन्द के परिचय-विवरण हैं, जिन्हें विषयान्तर की वजहसे अनुवाद में छोड़ दिया गया है।

'क्यों, तुझ अकेली के लिए कौन बहुत जगह चाहिए? और तू तो जानती ही है कि मैंने इन्हें अपनी झोपड़ी खाली कर देने के लिए भी कहा है!'

'तुम तो कहोगे ही, ये तुम्हारे बेटे जो हैं!' 'बा' ने मानों उलाहना दिया।

'और ये तेरे बेटे कहाँ नहीं हैं?' यह सुनकर बा चुप हो गईं। वे उस छोटी सी कुटिया में ही रहती हैं; वहीं सूत कातती हैं, वहीं आराम भी करती हैं। बहुधा उनके पास पाँच छः मेहमान बने ही रहते हैं।

कोई बोल उठेगा—'अरे, यह कैसी बनी बनाई टोली इकट्ठी हो गई है!' इन आश्रवासियों में से हरएक की अपनी अलग धुन और भिन्न स्वभाव है; जिनमें उनकी बहुत सी कमजोरियाँ भी हैं। लेकिन गांधीजी के लिए उन सबों के मन में एक जैसा प्रेम है और उसी गाँठ में बँधकर वे सब वहाँ एक साथ रहते हैं। वे अपनी जिस हार्दिक खुशी और उत्साह से खाना पकाते हैं, कपड़े धोते हैं, पाखाना साफ़ करते हैं, उसी तरह आश्रम के दूसरे काम भी करते रहते हैं। उन्हीं के बीच रहकर गांधीजी अपना काम करते रहते हैं। उनका दिन, पिछली रात के तीन बजे से शुरू हो जाता है। वे कभी सबेरे की प्रार्थना या सूत कातना नहीं भूलते; इन सब कामों में दूसरे किसी की बजाय वे ज्यादा नियमित रहते हैं। वे खुद को शरीर और मन से अपाहिज़ कहते हैं, लेकिन मेरी समझ में तो ज्यादातर दूसरे नेताओं से वे अधिक ही काम करते हैं। सेवाग्राम की झोपडियाँ, मिट्टी और बाँस की बनी हुई हैं; उनकी बनावट का कोई खास तरीक़ा नहीं है। आश्रम में अतिथिगृह भी नहीं है। बहुधा दूसरी संस्थाएँ जिस कला के कारण सुशोभनीय होती हैं, उस कला का लेशमात्र भी वहाँ नहीं है; फिर भी अनगिनत मेहमान और कार्यकर्त्ता न जाने किस आकर्षण से खिंचकर वहाँ चले आते हैं।

इसलिए सिर्फ गांधीजी में ही नहीं, बल्कि वहाँ की सारी मंडली में ही कोई आकर्षक वस्तु ज़रूर है। वह वस्तु कौन सी है, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता...नहीं तो राजकुमारी अमृतकुँवर जैसे व्यक्ति आकर यहाँ क्यों बसें? और मैं खुद दीवाना बनकर इतना बड़ा लेख किसलिये घसीट डालूँ?*



*बंबई के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया' के ता. ३१-३-४० और ७-४-४० के अंकों में प्रकाशित अंग्रेजी लेखोंका अनुवाद; सम्पादक के सौजन्य से।

असहयोग के प्रारंभ से

● श्री० चन्द्रशंकर प्रा. शुक्ल ●

(१) सन् १९२० का सितम्बर महीना था। काँग्रेस कमेटी की कलकत्तावाली बैठक में, असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद गांधीजी तुरन्त साबरमती लौट आये। कमेटी ने स्कूल-कॉलेजों के बहिष्कार का प्रस्ताव भी पास किया, और अहमदाबाद में एक राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने का भी विचार होने लगा। मैं उन दिनों गुजरात कॉलेज में पढ़ रहा था; कॉलेज के विद्यार्थी काँग्रेस के प्रस्ताव से प्रभावित हुए थे और उनमें से बहुतों ने कॉलेज छोड़ने का निश्चय भी कर लिया था। कॉलेज के सामनेवाली चाल में मैं रहता था; मेरे साथ ही मेरे मित्र और सहपाठी पांडुरंग देशपांडे भी रहते थे। जब हमें मालूम हुआ कि गांधीजी अहमदाबाद से लौट आये हैं, तब यकायक, न जाने किस विचार से, एक दिन झुटपुटे में उठकर, बिना किसी से कहे हम दोनों पैदल साबरमती आश्रम जा पहुँचे। गांधीजी से मिलने की बात तो सोच भी कैसे सकते थे ? लेकिन हम किस्मतवाले थे; ज्यों ही उनके दरवाज़े के सामने पहुँचे, वे हमें सामने ही बैठे हुए दिखाई दिये। हम दोनों अन्दर जाकर बैठे और अपनी पहचान कराई; साथ ही साथ यह भी बता दिया कि हम किसी के भेजे हुए प्रतिनिधि नहीं हैं। तब उन्होंने शिक्षा के बहिष्कार की बात कही, जिसमें इसका विरोध करनेवालों का भी उन्होंने उल्लेख किया, जिनमें श्री० श्रीनिवास शास्त्री और प्रिंसिपल परांजपे का नाम खास तौर से लिया। हम दोनों को यह बात ख़ास तरह से समझाने की तो जरूरत ही नहीं थी, क्योंकि हम लोगों असहयोग की ज़रूरत पर विश्वास हो गया था। (यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बहुत से

विद्यार्थियों को यह मालूम होने पर ही कि कुछ ही समय में राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना होगी; वे स्कूल कॉलेजों का बहिष्कार करने को तैयार हुए थे)। हमने अपनी एक सच्ची और व्यावहारिक कठिनाई गांधीजी के आगे पेश की। हममें से बहुत से विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति (Scholarship) मिलती थी, जो हमारे रहने और पढ़ने का आधार थी; उसका क्या होगा? गांधीजी ने बताया कि यह कोई बड़ी भारी मुश्किल नहीं है; मेरे बहुत से धनवान दोस्त हैं जिन्हें कहकर छात्रवृत्ति की समस्या हलकी जा सकती है।' यह सुनकर हम निश्चिंत हुए। उन्होंने सरकारी शिक्षा के बारे में भी बातें कीं; जिसका एक वाक्य हमें अभी तक याद है। वे बोले—'देवदास* तो किसी कॉलेज में गया भी नहीं, लेकिन उसके जैसी उम्दा अंग्रेजी लिखने वाले एम. ए. भी बहुत कम मिलेंगे!' जब हम शुरू शुरू गये, तो हमारे मन में एक तरह का संकोच और डर सा था, लेकिन जब गांधीजी ने हम लोगों से वैसे बात की, जैसे वे हमें बहुत दिनों से पहचानते हों, तब हमारा वह संकोच चला गया। हम लोगों ने सुझाव पेश किया—'अच्छा हो, इस बारे में आप विद्यार्थियों के आगे एक भाषण दें।' उन्होंने कहा—'मुझे इस बारे में जल्दी करने की ज़रूरत नहीं है!' मैंने कहा—'लेकिन इन दिनों विद्यार्थियों में जो विचार-धारा चल रही है, उसे आपके भाषण से वेग मिलेगा!' उन्हें यह बात जँच गई; बोले—'अच्छा, तो मंगलवार की शाम को 'संसार सुधार' हाल में सभा की व्यवस्था करदो; और वल्लभभाई से कह दो कि बापू ने कहलाया है कि आपको ही सभापति बनना होगा!' इसी बीच आश्रम का ही कोई आदमी आ गया और हमने उनसे विदा ली। हमें उनसे मुलाक़ात के पूरे ४५ मिनट मिले थे, इस लिए हम एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हुए डेरे पर आये। उसी वक्त मित्रों को ख़बर दी;

* गांधीजी के सुपुत्र।

और अखबारों में भी कार्यक्रम की सूचना भेज दी। सरदार साहब को भी खबर दी गई, और उन्होंने बिना किसी ऐतराज़ के बापूजी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। आखिर मंगलवार की शाम को हम सब लोग ठीक समय पर सभा भवन में हाज़िर हो गये। हम लड़कों को कहाँ मालूम था कि अब 'संसार सुधार' हॉल में गांधीजी की सभा करने का ज़माना गुज़र चुका है। आदमी तो उमड़ उमड़ कर वहाँ समाते नहीं थे; इसी बीच अहमदाबाद के एक कार्यकर्त्ता आये और उन्होंने सभा को नदी की रेत में, एलिस ब्रिज के नीचे ले जाने का अनुरोध किया। गांधीजी की मोटर सीधी वहीं आई; उनका भाषण भी हुआ। मैं, इस उद्देश्य से, कि इसी सभा में उन विद्यार्थियों की, जो कॉलेज छोड़ने का निश्चय कर चुके थे, नाम जाहिर कर दिये जायँ तो ठीक हो, उन विद्यार्थियों की तपसील तैयार कर रहा था। गांधीजी का भाषण हो जाने के बाद, वह सूची गांधीजी के सामने रखने के पहले मैंने सोचा कि यदि इस सूची में मेरा ही नाम न हो तो कैसा हो ? महीने भर की छुट्टियों के बाद तो कॉलेज छोड़नी ही है तो इसी वक्त क्यों न छोड़ दूँ ? यही सोचकर मैंने अंत में अपना नाम भी सूची में जोड़ दिया। श्री० महादेव देसाई ने सभा में वे नाम कह सुनाये। इस प्रकार इसी सभा से हिन्दुस्तान में शिक्षा के बहिष्कार का मंगलाचरण शुरू हुआ। उस दिन सन् १९२० के सितम्बर को २८ वीं तारीख थी, आज उस बात को करीब पच्चीस साल हो चुके हैं।

(२) सन् १९२६ में स्वास्थ्य ठीक न रहने से, उनका साल भर आश्रम में ही बीता। मुझे उनके पास रोज़ एक घंटे के लिए जाना होता था। उन दिनों वे हर सप्ताह अपनी 'आत्मकथा' का एक अध्याय लिख रहे थे, जिसका एक अध्याय ('प्रिटोरिया में पहला दिन,' आत्मकथा भाग २, अध्याय १०) मुझसे लिखवाया। ऐसा कोई प्रसंग

किसी अख़बार में पढ़ने के बजाय हर एक वाक्य को सुन सुनकर लिखने में एक अनोखा आनन्द मिलता है, और लेखक के साथ ही साथ शिष्यको भी उन घटनाओं से साक्षात्कार करने का मौका मिला है। जब दूसरे सप्ताह, 'आत्मकथा' लिखने का दिन आया तब मैं पहले से ज्यादा उत्साह और ख़ुशी से वहाँ पहुँचा। लेकिन उसी दिन गांधीजी ने कह दिया—'आत्मकथा लिखवाना मुझे अनुकूल नहीं पड़ता, इस लिए आइन्दा मैं ही लिखा करूंगा।' (बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर उन्होंने 'आत्मकथा' के महत्वपूर्ण प्रकरण, अपने हाथों ही लिखे हें; और हमेशा आवश्यक लेख वे अपने हाथ से ही लिखते हैं।) उसी के साथ साथ श्री० महादेव देसाई का किया हुआ 'आत्म-कथा' का अंग्रेजी अनुवाद भी धारावाहिक रूप से 'यंग इंडिया' में प्रकाशित होता था। उन दिनों उनके इंग्लैंड के अभ्यासकाल के प्रसंग प्रकाशित हो रहे थे, जिसे पढ़कर युक्त-प्रान्त के एक बैरिस्टर ने गांधीजी को लिखा—'आप इन दिनों ये प्रसंग प्रकाशित करवा रहे हैं; आपको तो याद ही होगा भी हम दोनों 'मिसेज़......' के यहाँ मिले थे; इस बात का भी उल्लेख 'आत्मकथा' में कहीं कर दीजिए न!' गांधीजी ने हँसकर कहा—'पूरा मूरखराज है। इसे अमर होना है! पर यह नहीं जानता कि, 'आत्मकथा' तो ममीबाई जैसे बिलकुल अज्ञात व्यक्तियों को अमर करने के लिए लिखी जाती है!'

(३) गुजराती और हिन्दी पत्रों में तो ज्यादातर पते ही लिखने होते थे। एक बार ऐसे २४ पते एक साथ लिखे गये, जिन्हें देखकर गांधीजी ने मज़ाक में कहा—'पूरी तह लग गई!'

काठियावाड़ के एक शहर में रहने वाले एक सज्जन के बहुत से पत्र आते रहते थे, जिनमें आश्रम के बारे में पूछताछ के साथ वहाँ आने की इच्छा भी प्रदर्शित की जाती थी। पत्र के साथ ही जवाब के लिए पोस्टेज लगा हुआ लिफ़ाफ़ा भी आता था। कई महीनों तक यह

क्रम लगातार चलता रहा, लेकिन एक दिन गांधीजी का धीरज इस बारे में जाता रहा, उन्होंने निम्नाशय का पत्र लिखवा ही डाला—'मालूम होता है, आपके पास डाक खर्च के लिए बहुत पैसे हैं, तो उन्हें इस तरह न बिगाड़कर मेरे पास भेज दीजिए मैं उनका सदुपयोग करूँगा।' इस जवाब के बाद वे पत्र बन्द हो गये। उसी अर्से में गांधीजी कहीं जाने वाले थे, सम्भवतः वहीं रहने वाले एक गुजराती सज्जन ने गांधीजी को अपने यहाँ ठहरने का निमंत्रण अंग्रेजी में टाइप करके भेजा। तब गांधीजी ने 'सुज्ञ भाईसाहब' यह संबोधन करके, गुजराती में ही जवाब लिखा; शायद उनका मतलब वे सज्जन समझ गये होंगे, तब ही उन्होंने गांधीजी के पत्र का प्रत्युत्तर, अपने हाथ से गुजराती में ही लिखकर भेजा।

(४) इसके अलावा, इस अर्से में उनके साथ रहकर मुझे और भी बहुत सी बातों के जानने और समझने का सुअवसर मिला। वहाँ रहने पर ज्ञात हुआ कि गांधीजी मेहमानों की सहूलियत का कितना ख़याल रखते हैं। एक वक्त उत्तर-भारत के कुछ मुसलमान भाई आश्रम में आने वाले थे; जिनके भोजन के बारे में उन्होंने 'बा' से कहा—'इन भाइयों को मूंग की दाल की खिचड़ी खाने की आदत नहीं हैं; इनके यहाँ तो अरहर की दाल की खिचड़ी ही बनाई जाती है।' एक बार कस्तूरबा अपनी कोई सहायिका की शिकायत लेकर गांधीजी के पास आईं; गांधीजी ने उन्हें समझाकर कहा—'देख न, महादेव के न होने पर मैं चन्द्रशंकर से ही लिखवा लेता हूँ; अगर यह भी न हो तो किसी दूसरे को बिठा लूँ; और यह भी न हो तो उसके बदले किसी दूसरे के काम निकाल लेना चाहिए।' बा ने जवाब दिया—'आप अपना काम निकाल सकते हैं, मेरा काम नहीं।' (उनका मतलब था कि अगर भोजन बनाने में कोई नौसिखिया या लापरवाह मददगार मिल जाय, तो सारा भोजन चौपट हो जाय।)

एक बार आश्रम के बड़े लड़के लड़कियाँ आश्रमके बाहर कहीं कुछ देखने गये थे; एक बच्ची, जो किसी कारणावश न जा सकी, गांधीजी के सामने आकर रोने लगी। गांधीजी ने कहा—'तू रोना बंद करेगी तब ही मैं तेरी बात सुनूँगा!' और सचमुच उन्होंने ऐसा किया भी।

दूसरे आदमियों से किस तरह काम लिया जाय, इस बारे में बातचीत चल रही थी; गांधीजी ने कहा—'मैं अपने बारे में तो बहुत सख्त हूँ, लेकिन दूसरे को उदारता की नज़र से देखता हूँ!' (यह तो उनके शब्दों का अनुवाद है! उन्होंने तो कहा था—'मैं ख़ुद प्यूरिटन हूँ, लेकिन दूसरों के लिए कॅथोलिक् हूँ।) दूसरे किसी वक्त उन्होंने कहा था—'हमें स्पार्टन' (अर्थात् ग्रीस के शहर स्पार्टा की तरह सीधी और सख्त) रहन सहन की आदत डालनी चाहिए!' दूसरे एक सिलसिले में कहा—'हमारी शिक्षा–पद्धति में, बुद्धि के उपयोग पर ज्यादा ज़ोर दिया गया है; मैं इसके बजाय संतुलन (Balance) कायम रखने के लिए शारीरिक मेहनत पर ज्यादा ज़ोर देता हूँ!' उनकी सफ़ाई और व्यवस्था रखने की आदत प्रसिद्ध ही है। अगर खाने का चम्मच किसी ने बिछौने या ज़मीन पर रख दिया तो वे खीझ जाते हैं। एक दिन दोपहर को जब मैं वहाँ पहुँचा तो वे इसी दिन की एक घटना सुनाने लगे—'मैं खाना खा रहा था, उसी वक्त बिल्ली, एक चुहिया उठा लाई और मेरे ही सामने उसे नौंचने लगी! करता क्या? मैंने किसी तरह मन मार कर खाना ज़ारी रखा...इसी सिलसिले में उन्हें एक दूसरी घटना भी याद आ गई; बोले—'आसाम में, वहाँ के आदमी एक बिल्कुल नये चेम्बरपॉट में बाजार से दूध ख़रीद लाये! मेरा मन तो जाने कैसा हो गया; लेकिन उन बेचारों को क्या मालूम कि यह बर्तन किस काम आता होगा?' इस तरह के उदाहरणों से मालूम होता है कि वे अपने आसपास होने वाली रोज़मर्रा की

ऐसी कितनी ही बातों को धैर्य और क्षमा के साथ सहन कर लेते होंगे !

अंग्रेजों की नियमितता की तारीफ़ करते हुए उन्होंने एक उदाहरण देकर कहा—'किचनर की मौत की ख़बर सुनकर लॉयड जॉर्ज ख़ाना खाते वक्त उठते नहीं और ख़ाने का समय भी नहीं चूकते।'

इन दिनों नहीं, बहुत दिन पहले मुसाफ़िरी के वक्त उन्होंने यह वाक्य कहा था—'बाहर घूमते घूमते जब मेरी भीतर की बेटरी सूख जाती है, तो मैं आश्रम लौट आता हूँ, और यहाँ से प्रेरणा पाकर फिर घूमने निकल जाता हूँ।' उनके स्वभाव की विशेषता दिखलानेवाले ऐसे बहुत से अमूल्य वचन समय समय पर निकलते रहते हैं, उनमें से जितने याद थे, यहाँ उद्धरित कर दिये गये हैं।

(५) सन् १९२६ के ग्रीष्म में, 'अखिल-विश्व-विद्यार्थी-परिषद' फिनलैंड की राजधानी हेलसिंगफोर्स (जिसे इन दिनों, हेलसिंकी के नाम से पहचाना जाता है) में भरी जाने वाली थी, जिसका निमंत्रण गांधीजी ने मंज़ूर कर लिया था। उन्हें फ़िनलैंड ले जाने की सारी व्यवस्था मद्रास के ईसाई नेता श्री० के. टी. पाल के जिम्मे की गई थी; इस व्यवस्था के बारे में उनके लगातार ख़त आते रहते थे, जिनमें वे गांधीजी की रुचि और अनुकूलता के बारे में पूछते रहते थे, जवाब आने पर वे स्टीमर में बकरी को ले जाने तक की व्यवस्था कर चुके थे। कभी कभी दोपहर को ख़त लिखने के वक्त वे शौच को जाया करते थे; जिससे ख़त लिखने में देर हो जाती थी; एक दिन वे इसी तरह पाख़ाने गये और मुझे वहीं बैठने को कह गये। (वे पाख़ाने को 'लायब्रेरी' कहते हैं, आर ख़त वग़ैरह पढ़ने का बहुत सा काम वहीं निबटा लेते हैं। बेंगलोर में, सन् १९२७ में, एक दिन वे इसी तरह कागज़ों का एक पुलिन्दा लेकर पाख़ाने जा रहे थे कि मैं उनके सामने आ पहुँचा; मेरी ओर देखकर वे बोले—'मुझें तो यह काम ज़बर्दस्ती करना होता है !

किसी को मेरी नक़ल नहीं करनी चाहिए!' पर यह तो और टेढ़ी बात थी।) 'लायब्रेरी' से लौटकर वे बोले—'पाखाने में, मेरे अन्तःकरण ने कहा कि अभी तो हिन्दुस्तान में ही बहुत काम पड़ा है, फ़िलहाल युरोप जाने का वक्त नहीं।' इस बात में तर्क की तो कहीं जगह ही नहीं थी। तुरन्त उन्होंने महादेव देसाई आदि को बुलाकर अपना निर्णय सुना दिया, और सारी तैयारियाँ जहाँ की तहाँ रह गईं।

(६) आश्रम में कभी कभी शास्त्रवचनों और भजनों वग़ैरह के अर्थ के बारे में भी चर्चा चलती थी; यदि कोई व्यक्ति किसी उद्धरण का गहरा अर्थ निकालता तो गांधीजी उसे प्रोत्साहन देते थे। और कुछ नहीं तो सिर्फ़ इस विषय की बातों में वे रुचि ज़रूर रखते थे। नरसिंह मेहता के 'प्रभातिये' में एक पंक्ति है—'सृष्टि मंडाण छे सर्व एणी पेरे, जोगी जोगीश्वरा कोईक जाणे'* किसी ने कहा—'यह पाठ तो अशुद्ध मालूम होता है; सही तो यह है—"सृष्टि मंडाण छे सर्व एनी पेर!" अर्थात् सारी सृष्टिरचना ईश्वर पर आधारित है।' गांधीजी को यह अर्थ जँच गया। जिस वक्त वे उस सही अर्थ करने वाले को किसी संस्कृत शास्त्री के पास बैठाकर उसी की चर्चा कर रहे थे, मैं भी वहाँ पहुँचा गया। मुझे देखते ही गांधीजी ने हँसते हुए कहा—'लो, ये दूसरे शास्त्री आ गये।' मैंने कहा "एणी पेरे" यही पाठ प्रचलित है, और सही भी है; "ऐणी पेरे" याने 'इस प्रकार'; इसी सिलसिले में मैंने गुजराती 'सुदामा-चरित' का उदाहरण भी दिया। लेकिन इससे गांधीजा के मन को सन्तोष नहीं हुआ; इतने में यकायक श्री० महादेव भाई भी वहाँ आ पहुँचे। ऐसे अवसरों पर उनके मत का बहुत प्रभाव पड़ता था। उन्होंने भी 'ऐणी पेरे' का समर्थन किया। हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि गांधीजी का मत भी, उसी वक्त बदल

* सारी सृष्टि की रचना और गति, उसी प्रकार चलती रहती है; जिसे कोई (अनोखा) योगी या योगीश्वर ही जान सकता है।

गया या नहीं, लेकिन इससे उनके पक्ष की दलीलों का ज़ोर अवश्य कुछ कम हुआ।

(७) मेरे बारे में एक प्रसंग, इसी पुस्तक के "मिट्टीमें से आदमी" शीर्षक में, श्री० नरहरि भाई ने वर्णित किया है; दूसरा ऐसा ही मौका सन् १९२७ में भी आया था, जब काकासाहब कालेलकर गांधीजी के साथ रहने के लिए बैंगलोर गये थे; उन्हीं के साथ मैं भी था। कुछ दिनों के बाद, एक बार गांधीजी ने बुलाकर मुझसे कहा—'आज 'बा' के ज़रिये मुझे मालूम हुआ, तुम्हें रोटियाँ बानाते नहीं आता; यह तो अक्षम्य अपराध है!' मैंने बचाव के तौर पर कहा—'मुझे और सब बनाते आता है, सिर्फ़ रोटियाँ ही नहीं आतीं!' उन्होंने कहा–'हरएक सोल्जर और नर्स को हर तरह का खाना बनाना आना चाहिए; जाओ, आजही अपने हाथ की रोटी बनाकर मुझे दिखा ओ!' मैंने 'बा' और मणीबहन (कुमारी मणीबहन वल्लभभाई पटेल) के निरीक्षण में कुछ रोटियाँ बनाई और गांधीजी को बताने के लिए ले गया; रोटियाँ देखकर उन्होंने कहा–'देखने से तो भली मालूम देती हैं; अगर ऊपर घी न लगाया होता तो चखकर भी जाँच लेता!'*

* पहले उल्लेख किया गया है कि गांधीजी, जितने सख्त अपने लिए होते हैं, उतने दूसरे के लिए नहीं; उन्होंने खुद अपने हाथों ऐसे बहुत से काम किये हैं। उदाहरण के तौर पर उन्होंने सन् १९१२ में टॉलस्टॉय फॉर्म से डॉ० प्राणजीवन मेहता को एक पत्र में लिखा था–'यहाँ के आश्रम में, मैं जैसी चाहिए वैसी रोटी बना लेता हूँ; रोटी के बारे में दूसरों का सामान्य मत यही है कि वे अच्छी बनती हैं। मणिलाल और दूसरे भी बहुत से बनाना सीख गये हैं। हम उसमें खमीर या पाउडर नहीं डालते; हम अपनी जरूरत के गेहूँ हाथों से पीस लेते हैं। आश्रम में ही पैदा होने वाली नारंगी का मुरब्बा हमने अभी ही तैयार किया है। मैं गेहूँ की कॉफी बनाना भी सीख गया हूँ; यह कॉफी छोटे बच्चों को भी पिलाई जा सकती है। आश्रम में रहने वाले सत्याग्रहियों ने चाय कॉफी छोड़ दी है, जिसके बदले में वे लोग आश्रम में बनाई हुई गेहूँ की कॉफी पीते हैं। गेहूँ को

(८) इसी तरह मैं, लिफ़ाफ़े पर चिपकी हुई टिकटें उखड़ने में भी अनुत्तीर्ण रहा; गांधीजी यह काम बहुत सफ़ाई से करते हैं। लिफ़ाफ़े की दाहिनी ओर, उपर के कोने में टिकट चिपकाने के बजाय पीछे टिकट लगाना उन्हें ठीक मालूम नहीं देता। क्योंकि इससे कोई खास मतलब हल नहीं होता। सन् १९३४ के बिहार–भूकम्प के सिलसिले में हम लोग रेल में सफ़र कर रहे थे; उनके एक खत को लिफाफे में बन्द करके मैंने उसपर टिकट चिपका दी; बाद में मालूम हुआ कि उन्हें उस लिफ़ाफे में और भी कुछ कागज़ रखने थे. मैंने टिकट उखाड़ने की बहुत कोशिश की, लेकिन बिना टिकट फटे, लिफाफ़ा खुलना मुझे तो असंभव मालूम होता था। गांधीजी सामने के पटिये पर बैठे हुए मेरी कोशिश देख रहे थे; थोड़ी देर ठहरकर बोले—'क्यों नहीं उखड़ता ? लाओ मेरे पास—' उन्होंने बिना टिकट को फाड़े, मेरे देखते ही देखते लिफ़ाफ़ा खोल डाला।

(९) जब सन् १९२६ में वे लगातार एक साल आश्रम में रहे तब बच्चों को शिष्टाचार की सीख भी देते थे। 'सिर्फ़ 'हाँ' 'ना' नहीं, हाँ जी, नहीं जी, कहना चाहिये!' इस बात से सीख का प्रारंभ हुआ। वे खुद भी, चाहे जितने व्यस्त क्यों न हो, बारीक़ से बारीक बात भी नहीं भूलते। एक बार जब महामना मालवीयजी वहाँ आये तो आख़िरी दरवाजे तक उन्हें पहुँचाने वे गये थे। जब वे बेलापुर–अधिवेशन के अध्यक्ष थे, तब मिसेज़ एनी बैसंट के आगमन पर, मंच से उतर कर आधे सभामंडप तक उनका सत्कार करने गये और उन्हें नमस्कार कर

पहले ख़ास तरीके से भुन कर फिर पीसा जाता है। भविष्य में हमारी ऊपर बताई हुई तीन चीज़ें अगर उपयोग के बाद बच पायेंगी तो हमारा विचार, उन्हें बाहर के लोगों को बेचने का है। अभी तो आश्रम के मकानों को बांधने का काम चल रहा है, जिसमें हम मजदूर के रूप में काम कर रहे हैं, इसलिए इन चीजों को जरूरत से ज्यादा तैयार करने का हमें वक्त नहीं मिलता।'

के मंच पर ले आये। एक जगह, किसी देशीराज्य के बड़े अधिकारी के साथ दरवाज़े से गुजरते हुए, 'पहले आप' कहना भी वे नहीं भूले। उनका कोई भी साथी अगर शिष्टाचार में भूल करे तो उन्हें भला नहीं लगता। इस बारे में दो बातें उन्होंने मुझे सिखाईं। अप्रैल सन् १९३४ में रांची (बिहार) में स्वराज्य-पक्ष की परिषद् बैठी थी, एक दिन सुबह गांधीजी, मंच पर कई नेताओं के साथ आवश्यक राजनैतिक चर्चा में मशगुल थे; इतने में नीचे से कोई आदमी श्री० मीनू मसानी के नाम की चिट्ठी लाया। मैंने चिट्ठी अपने पास रख ली; और जब क़रीब आधे घंटे के बाद बातें पूरी हुईं तो गांधीजी को दी; उन्होंने मसानीजी को बुलाने के लिए नीचे आदमी भेजा; लेकिन वे तो थोड़ी देर ठहर कर चले गये थे। गांधीजी ने पूछा—'चिट्ठी कब आई' मैंने कहा—'क़रीब आधा घंटा हुआ होगा, लेकिन आप ज़रूरी बातें कर रहे थे, इस लिए उस वक्त न दी।' 'दी क्यों नहीं? आते ही दे देनी चाहिए थी! इसमें कौन सा खलल पड़ जाता? तुम जानते हो मसानी कौन है?' मेरा उनसे ख़ास परिचय नहीं था, इसलिए मैंने इन्कार किया। यह जानकर गांधीजी को बहुत आश्चर्य हुआ; बोले—'इनके पितासे मेरी बहुत पुरानी पहिचान है; जाओ, उन्हें ढूँढ़ निकालो! उन्हें यहीं खाना खिलाना और ठहराना भी यहीं!' अब मैं उन्हें कहाँ ढूँढ़ता?...लेकिन सौभाग्यवश वे भोजन के पहले ही वहाँ एक बार आ गये और यह बात यहीं तक रह गई!

(१०) ऐसे ही उलाहने भरी एक बात उसी साल लाहौर में मैंने और कर दी। जब गांधीजी लाहौर में ही थे, सरदार पटेल के छूटने का तार आया; मैंने तार फोड़ा और गांधीजी के दूसरे सब साथियों को भी बता दिया। उस वक्त श्री० ठक्कर बापा (अमृतलाल ठक्कर) वहाँ नहीं थे, इसलिए मैंने उनके सेक्रेटरी को बता दिया; लेकिन फिर भी उसकी खबर उन्हें नहीं मिल सकी। जब दोपहर को गांधीजी ने उनसे बात

की तो मालूम हुआ, उन्हें ख़बर नहीं मिली; उन्होंने उसी वक्त मुझसे पूछा—'तार किसने फोड़ा ?' मैंने जवाब दिया—'मैंने ! लेकिन उस वक्त ठक्करबापा यहाँ नहीं थे, इसलिए उनके सेक्रेटरी से कह दिया था।' वे बोले—'यह कैसे हो सकता है ? जब तुमने तार फोड़ा तो सबसे पहले तुम्हें ही सब को खबर पहुंचा देनी चाहिये थी ! मेरी नज़र में यह बात सूक्ष्म शिष्टाचार (उन्होंने अंग्रेज़ी के 'डेलिक्सी' शब्द का उपयोग किया था) की कमी जाहिर करती है !

(११) गांधीजी के बहुत से ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण निर्णय किस तरह होते हैं यह बात भी जानने जैसी है। ऐसी एक घटना मैंने पहले भी, इसी लेख में दी है। ८ मई १९३३ को उन्होंने यरवदा जैल में २१ दिन का अनशन शुरू किया; संयोगवश उसी दिन शाम को उन्हें छोड़ दिया गया। जेल-विभाग के मुख्य अधिकारी उन्हें अपनी मोटर में बैठाकर पर्णकुटी छोड़ गये। जब गांधीजी वहाँ पहुँचे तो दो तीन पत्रकार वहीं मौजूद थे; उन्होंने उसी वक्त गांधीजी का लम्बा और महत्त्वपूर्ण वक्तव्य लिखना शुरू किया। वक्तव्य पूरा लिखा देने के बाद मालूम हुआ कि उन्होंने अपना 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' छः सप्ताह के लिए रोक देने का निर्णय किया है। बाद में उन्होंने पत्रकारों से यह भी कहा कि 'जब तक मैं न कहूँ, आप यह वक्तव्य प्रकाशित न करें।' उस वक्त राजाजी और श्री० सरोजनी नायडू भी वहीं मौजूद थीं; उन्होंने भी वह वक्तव्य पढ़ा। उस वक्त काँग्रेस के कार्यकारी सभापति श्री० अणे पूना में थे; जिन्हें बुलाने के लिए गांधीजी ने मुझे भेजा। उन्होंने आकर गांधीजी का वक्तव्य पढ़ा और उनके निर्णय समर्थन किया; और तब उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दी गई। उसके बारे में बाद में गांधीजी ने कहा—'मुझे जैल में किसी दिन भी इस बात का ख़याल नहीं आया कि मैं बाहर जाकर क्या करूँगा ? लेकिन जैल के दर-

वाज़ों के साथ मेरे दिमाग़ के दरवाज़े भी खुल गये और पर्णकुटी पहुँचने तक (याने एक मील दौड़ने में मोटर को जितनी मिनटें लगीं, उतने ही में) मेरा निर्णय हो गया!'

(१२) जनवरी सन् १९३४ में गांधीजी "हरिजन-यात्रा" के दरमियान गुरुवायुर गये; वहाँ रात में देर से पहुँचे। श्री० राघवन् नामक एक आश्रमवासी युवक ने, जो केरलवासी थे और वहीं आसपास के किसी गाँव में खादी कार्य करते थे, गांधीजी को सवेरे चार बजे मिलने का वक्त दिया। उनसे बात करने पर गांधीजी को मालूम हुआ कि, इस जगह खादी कार्य में उनका पूरा उपयोग नहीं होता था; इसी के साथ बिजली की चमक की तरह एक विचार उनके दिमाग में आया कि देश के सभी बेकार युवकों को सिर्फ़ खादी कार्य में लगा देना ठीक नहीं; उनसे खादी की पूर्ति के रूप में ग्रामोद्योग के दूसरे काम भी कराये जाने चाहिए। उन दिनों चरखा संघ के मंत्री श्री० शंकरलाल बैंकर दक्षिण-भारत का प्रवास कर रहे थे; उन्हें उसी वक्त तार देकर कालीकट बुलाया गया और उस बारे में गांधीजी ने उनसे चर्चा भी की। उसके बाद भी गांधीजी ने अपनी "हरिजन-यात्रा" में जगह जगह कार्यकर्त्ताओं से ग्रामोद्योग के बारे में बातचीत की। जब अप्रैल में पटना से उन्होंने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन को तहकूब रखने का निर्णय किया, उसमें उन्होंने ग्रामोद्योग का भी उल्लेख किया था; और थोड़े ही समय बाद 'ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना भी की। ...और खादी-प्रवृत्ति के इतने बड़े विस्तार का बीज गुरुवायुर की बातचीत में ही बोया गया था।

(१३) उसी साल, गर्मी के दिनों में उन्होंने उड़ीसा में पैदल "हरि-जन-यात्रा" की। इस विचार का सूक्ष्मबीज भी इसी तरह उनके दिमाग़ ने बोया था। दूसरे प्रान्तों की लम्बी सफ़र में, उनकी मोटर से चार-पाँच कुत्ते दबकर मर गये थे, तब ही से मोटर की

सफ़र से उनका मन उचट गया, जिसका जिक्र उन्होंने एकबार किया भी था। धीरे धीरे इस विचार ने असर किया और पैदल-यात्रा शुरू हुई।

(१४) 'हरिजन-यात्रा' के आख़िरी महीने-अर्थात् जुलाई १९३४-में गांधीजी लाहौर से सीधे कलकत्ता गये। उस वक्त मुख्य उद्देश्य हरिजन-फंड के लिए धनसंग्रह करना था, जिसके फलस्वरूप अकेले कलकत्ता ने तीन दिन में ७० हज़ार रुपये दिये। इस यात्रा का एक गौण उद्देश्य यह भी था कि बहुत दिनों से कलकत्ता के काँग्रेस पक्षों में जो आदसी मतभेद था उसे भी दूर किया जाय। लेकिन इस बात में गांधीजी को सफलता न मिली और वे वहाँ से कानपुर रवाना हुए। इस असफलता से उन्हें इतना खेद हुआ कि कुछ दिनों के बाद किसी से बातें करते हुए उन्होंने कहा—'कलकत्ते से रवाना होते वक्त, हावड़ा के प्लेटफॉर्म पर ही मुझे, पहले पहल काँग्रेस से अलग हो जाने का विचार आया!' इस विचार का जो नतीजा निकला वह जगजाहिर है। इस तरह अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों के सूक्ष्म-बीज उनके विचारों में कैसे समाये रहते हैं, इसका इन उदाहरणों से आभास मिलता है!

(१५) गांधीजी बारीक से बारीक बात के बारे में भी काफ़ी सचेत रहते हैं; यह भी उनकी सत्य की आराधना का ही एक हिस्सा है। सन् १९३४ के काँग्रेस के बम्बई अधिवेशन में एक प्रस्ताव का मसविदा उन्होंने तैयार किया था। उस मसविदे का कागज़ उन्होंने मुझे दिया, जिसके बारे में उस दिन मौन होने के कारण अलग एक कागज में उन्होंने सूचना भी लिख दी। वह कागज़ मैं काँग्रेस कार्य समिति के कार्यालय में श्री० जयरामदासजी को दे आया। कुछ देर बाद गांधीजी ने बुलाकर मुझसे वह कागज़ मांगा। मैंने कहा-'मैं तो

वहीं दे आया हूँ !' उन्होंने कहा—'वह देने के लिए नहीं था...' मैंने कहा—'मुझे पढ़ने का ख़याल न रहा !' उन्होंने उसी वक्त रद्दी की टोकनी में से, कुचला हुआ एक कागज़ का टुकड़ा निकाला, और उसे ठीक करके मेरे सामने रखा, जिसमें लिखा था—'यह कागज़ जयरामदास को दिखाकर वापस ले आओ।' मैं क्या जवाब देता ? चुपचाप जाकर कागज़ वापस ले आया।

(१६) ज़ाहिर है कि गांधीजी हरिजन-फंड के लिए औरतों से कैसे गहने माँगते थे। उस वक्त उन्होंने लड़कियों के लिए दस्तख़त की कीमत एक चूड़ी ही रखी थी। दूसरी ओर, कोचीन राज्य के एक छोटे से गांव में एक लड़का अपनी छत्री देने लगा। गांधीजी ने कहा—'यह मैं नहीं लूँगा; यहाँ तो छत्री बहुत ज़रूरी चीज़ हैं; मैं इसे कैसे ले सकता हूँ !' वह उनके शिष्टाचार का बहुत मामूली किंतु सुन्दर उदाहरण है।

(१७) 'कला' के बारे में गांधीजी के विचारों को जानने पर कभी कभी बहुत से लोग उलझन में पड़ जाते हैं। इस बारे में सन् १९३४ में लिखा हुआ, उनका निम्नलिखित पत्र, उनके विचारों पर काफ़ी प्रकाश डालता है—

मैं तो हमेशा से यही मानता आया हूँ कि सच्चे सौंदर्य और सत्य में परस्पर ज़रा भी विरोध नहीं होता; सत्य, हमेशा सुन्दर होता है। इसलिए मेरे मतानुसार, सत्य में सभी कलाएँ समाई हुई होती हैं; सत्य से रहित कला, कला नहीं होती और सत्य से रहित सौन्दर्य भी निरी कुरूपता है ! इस दुनिया में बहुत सी कुरूप वस्तुएँ भी सुन्दरता में समाहित हो जाती हैं, यह बात सही है; ऐसा ही होता भी है, क्योंकि हम कभी भी सत्य की कीमत आँकना नहीं जानते !'

(१८) एक जन–सेवक को, किसी प्रसंगवश उन्होंने लिखा था– ‘जन–सेवक के मनमें उसकी आतंरिक या व्यक्तिगत भावना ही नहीं होती, कि उसका जी दुखे ! उसे तो ‘शून्य’ हो जाना चाहिए। उसे अभिमान नहीं होता; सेवा के द्वारा मिली प्रतिष्ठा के अलावा सत्ता या इज्ज़त भी नहीं होती। उसे “तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः” होना चाहिए। इसलिए तुम मेरे या मेरे कार्य के लिए चिंता न करो। कार्य की सिद्धि, मेरे या तुम्हारे हाथ में नहीं; वह तो सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ में है। मैं और तुम तो उसके निमित्तमात्र हैं। अपनी उसी अकिंचनता में आनन्द मान कर बल प्राप्त करते रहो !’

(१९) एक स्त्री के लिए, उसकी संगीन बीमारी के दिनों में उन्होंने लिखा था—‘अगर इस बार बिदा होना ही पड़े तो, घर जाना है यही समझकर, शांति के साथ हृदय पर भगवान का नाम अंकित करके चली जाना। अगर ईश्वर को इसी शरीर से कुछ और सेवाएँ लेनी होगी तो तुझे वापस उठा देगा !’

बड़ौदा : २८–९–४५।

Printed by R. R. Bakhale, at the Bombay Vaibhav Press, Bombay 4.
and published by M. K. Vora for Vora and Co. Publishers Ltd.,
3 Round Building, Kalbadevi, Bombay 2.